ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

इष्टोपदेश प्रवचन

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी विरचित **श्री इष्टोपदेश** ग्रन्थ पर
अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
अलग से उपलब्ध अक्षरशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत १९७५, वीर संवत. २५४५, ईसवी सन् २०१९

प्राप्ति स्थान :

— **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन - (02846) 244334

— **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
Email - vitragva@vsnl.com

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय निवेदन

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के श्रीमुख से प्रवाहित दिव्यध्वनि में, संसार दु:ख से तप्त जीवों का आत्महित कैसे हो तथा शाश्वत् सिद्धि सुख की प्राप्ति का उपाय विशद् रूप से प्रकाशित हुआ है। जिन्होंने स्वयं के पुरुषार्थ पराक्रम से समस्त विभावभावों को ध्वंस करके स्वरूप साम्राज्य की प्राप्ति की है, वे ही हितोपदेशी कहलाने के योग्य हैं। परिपूर्ण निर्दोष परमात्मा ही निर्दोष होने का मार्ग स्पष्टरूप से प्रकाशित कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। प्रवर्तमान श्री महावीर भगवान के शासन में अनेक आचार्यों ने जिनेन्द्रदेव प्रणीत मोक्षमार्ग को आकाश के स्तम्भ बनकर जीवन्त रखा है। परमागमों में जिनेन्द्रदेव प्रणीत सम्यक् मोक्षमार्ग का निरूपण करके वर्तमान भव्य जीवों पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

आचार्य भगवन्तों ने स्वयं के अनुभव में कलम डुबोकर, निर्विकल्पदशा में झूलते-झूलते सविकल्पदशा में आकर भव्य जीवों के हित के लिये महान परमागमों की रचना की है। जिनशासन परम्परा में अनेक महान आचार्य हुए, उनमें श्रीमद् पूज्यपादस्वामी का नाम भी प्रचलित है। वे कर्णाटक प्रान्त के निवासी ब्राह्मणकुल में उत्पन्न प्रखर विद्वान थे। इतना ही नहीं, वे उत्कृष्ट चारित्र के साधक भी थे। वे भारतभूमि में छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो गये—ऐसा विद्वानों का मानना है। उनका दीक्षा नाम देवनन्दि था और बाद में वे पूज्यपाद, जिनेन्द्रबुद्धि आदि अपर नामों से प्रसिद्ध हुए।

प्राचीन शिलालेख में आपश्री का उल्लेख भी दृष्टिगोचर होता है। पूज्यपाद नाम किस आधार से पड़ा, इसका उल्लेख भी देखने में आता है, जो पाठकवर्ग को जाननेयोग्य है। श्री पूज्यपाद ने धर्मराज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पादपूजन किया, इसलिए वे पूज्यपाद कहलाये। इन शिलालेखों में ऐसा भी उल्लेख है कि वे अद्वितीय औषधऋद्धि के धारक थे। विदेहक्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से वे पवित्र हुए थे तथा उनके चरणरज के स्पर्श से एक बार लोहा भी सुवर्ण हो गया था। महायोगियों के लिये ऐसी घटना बनना असम्भवित नहीं है।

उनकी कृतियों में जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थ उन उन विषयों में जैन समाज में बहुत आधारभूत माने जाते हैं। उनकी भाषाशैली सरल, रोचक तथा हृदयस्पर्शी है। शिलालेखों में उपलब्ध तथ्य और ऐतिहासिक खोज से ज्ञात होता है कि पूज्यपादस्वामी एक सुप्रतिष्ठित जैनाचार्य, महान दार्शनिक, धुरन्धर कवि, महान तपस्वी थे। उनके दिगन्त व्यापी

यश और विद्वत्ता से आकर्षित होकर कर्णाटक के ई.स. ८, ९ और १०वीं शताब्दी के प्राय: सर्व प्राचीन विद्वान कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में बहुत भक्ति-भावभरी श्रद्धांजलि अर्पित करके उनकी मुक्तकण्ठ से बहुत-बहुत प्रशंसा की है।

महान जंगलवासी भावलिंगी सन्तों की स्वरूपसदृश्य परिणति की तो बात ही क्या करना? उनके दर्शनमात्र से संसारीजीव के परिभ्रमण का छेद हो जाता है। परन्तु ऐसे महान भावलिंगी सन्त की पहिचान करानेवाले इस काल में अध्यात्मयोगी विदेहवासी दिव्य करुणामूर्ति भावि तीर्थाधिनाथ पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, एक अद्वितीय सत्पुरुष हुए। उन्होंने लुप्त प्राय: मोक्षमार्ग को जीवन्त करके श्री महावीरस्वामी की परम्परागत देशना को सजीवन करके मृतकसम जीवों को प्राण अर्पित कर नवजीवन दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के वर्तमान जीवनकाल के दौरान उन्होंने अनेक दिगम्बर ग्रन्थों का गहराई से अभ्यास करके, जैसे समुद्र में से मोती निकालकर दे, वैसे आपश्री ने महान परमागमरूपी समुद्र का मन्थन करके दिव्य मोतीमाला मुमुक्षुजीवों के कर-कमल में प्रदान की है। अनेक जैनाचार्यों के हृदय में प्रवेश कर उनके हार्द को, रहस्य को समाज में ढिंढोरा पीटकर प्रसिद्ध किया है। आपश्री की स्वतन्त्रता की घोषणा, सिंहनाद के आज भी टेप में स्पष्ट दर्शन होते हैं। भावि तीर्थंकरद्रव्य की देशना के दर्शन, श्रवण का लाभ वर्तमान समाज को प्राप्त हुआ है। समीपवासी जीवों ने दिव्य देशनामृत के घूँट भर-भरकर पिये, उन्हें धन्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन समुद्र का एक दिव्य बिन्दु है—इष्टोपदेश पर उनके अक्षरश: प्रवचन। प्रत्येक प्रवचन में भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव के आश्रय को केन्द्रबिन्दु में रखकर आयी हुई प्रवचनशैली वास्तव में हृदयस्पर्शी है। अनेक शास्त्रों पर पूज्य गुरुदेवश्री की वीतरागता भरपूर वाणी का संग्रह वर्तमान मुमुक्षु समाज को उपलब्ध है, जो महाभाग्य की बात है। प्रस्तुत इष्टोपदेश ग्रन्थ पर प्रवचन मुमुक्षु जीव को आत्महित में अवश्य उपकारी हों ऐसे हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय देशना मुमुक्षु जीव के अन्त:करण को जागृत करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिये अवश्य प्रेरणास्पद होती है। अध्यात्मरस भरपूर शैली, आत्महित को प्रगटरूप से दर्शानेवाली पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना का वर्णन करने में हम असमर्थ हैं, तथापि आपश्री से प्राप्त श्रुतलब्धि के प्रति तथा भवनाशक भगवती प्रज्ञा के प्रति अहोभावपूर्वक पवित्र चरणों में नतमस्तक करते हैं। पूज्य गुरुदेव महिमाप्रकाशक तद्भक्त भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन तथा अन्य धर्मात्माओं को स्मरण में लेकर उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में संग्रहित करने का महान कार्य प्रारम्भ

करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस पवित्र कार्य को अविरत धारा से चालू रखा और संग्रहित रखा, तदर्थ उनके आभारी हैं। तत्पश्चात् दिव्य वीतराग वाणी को सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के पवित्र कार्य का सौभाग्य श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई को प्राप्त हुआ। इन्हीं प्रवचनों को ग्रन्थारूढ़ करने का भी विशेष सौभाग्य ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। इसलिए इस प्रसंग में इष्टोपदेश ग्रन्थ के विभिन्न समय में हुए प्रवचन जो बाद में उपलब्ध हुए हैं, उन्हें एकत्रित कर प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। विदित हो कि इष्टोपदेश ग्रन्थ पर उपलब्ध समग्र प्रवचन इष्टोपदेश प्रवचन भाग-1 और भाग-2 के नाम से पूर्व में प्रकाशित किये जा चुके हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। इन प्रवचनों को सुनकर गुजराती भाषा में ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य पूजा इम्प्रेशन्स, भावनगर तथा श्रीमती मंजूबेन गाला, सांताक्रूज द्वारा किया गया है। जिन्हें जाँचने का कार्य श्री सुधीरभाई शाह, सूरत तथा श्री अतुलभाई जैन, मलाड द्वारा किया गया है। इस प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर एवं सी.डी. से मिलान पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। इस प्रसंग में ट्रस्ट उनके प्रति आभार व्यक्त करता है। जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर और जवाबदारी पूर्ण होने से अत्यन्त जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है, तथापि प्रकाशनकार्य में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो समस्त वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति क्षमायाचना करते हैं। ट्रस्ट का मुमुक्षुजनों को निवेदन है कि अशुद्धियाँ ट्रस्ट तक पहुँचाये, जिससे आगामी आवृत्ति में सुधार किया जा सके।

यह प्रवचन www.vitragvani.com पर उपलब्ध हैं।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं। इति शिवम्।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

विलेपार्ला, मुम्बई

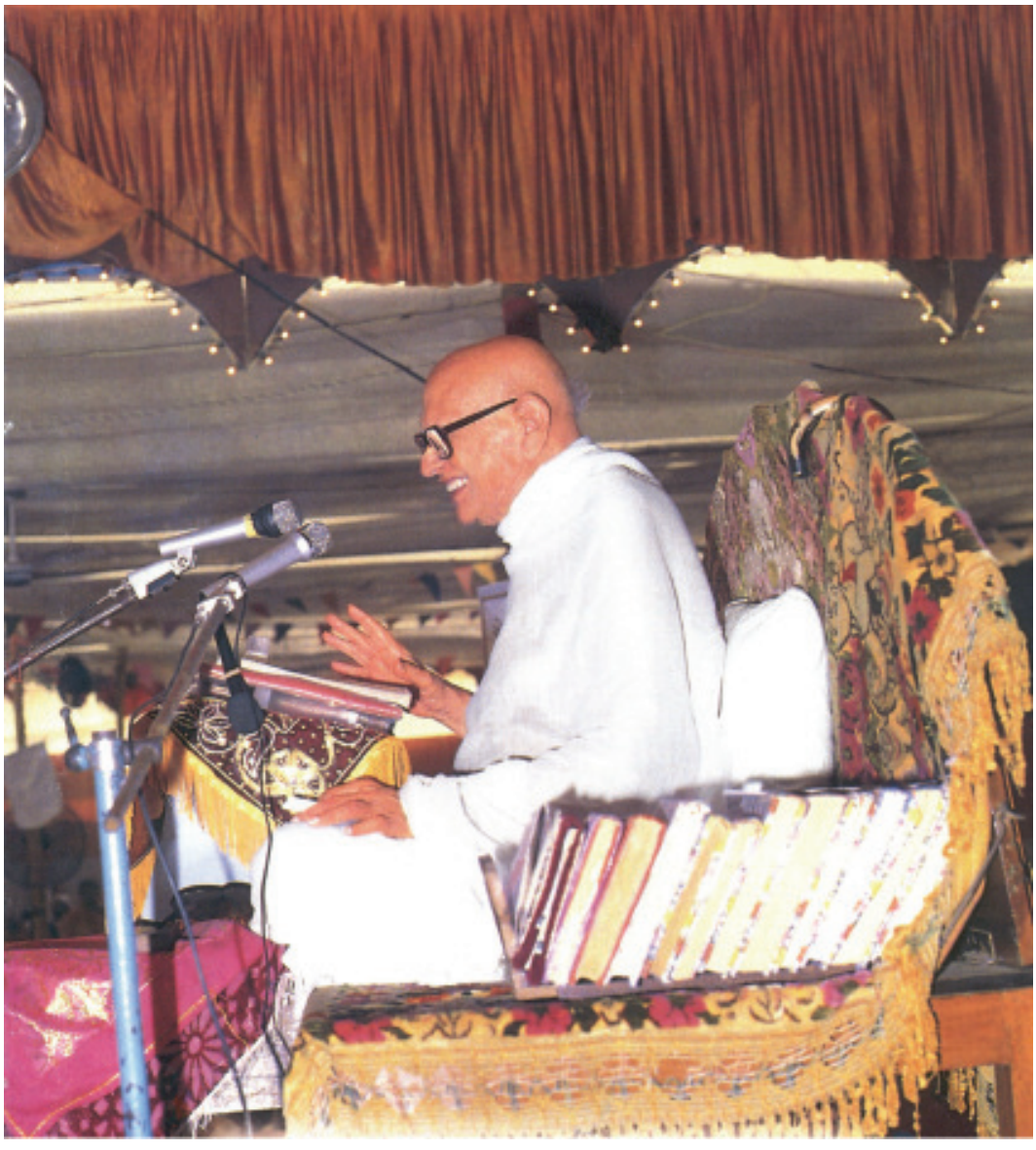

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिक

प्रवचन क्रं.	दिनांक	गाथा	पृष्ठ क्रं.
०१	२५-०९-१९५६	१६, १७	०१
०२	०१-१०-१९५६	१७	१९
०३	०२-१०-१९५६	२२, २३	३६
०४	०५-१०-१९५६	२५, २६	५६
०५	०८-१०-१९५६	२९ से ३१	७०
०६ (८१०)	०७-१०-१९५६	२८, २९	९७

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी आचार्यदेव

ॐ

परमात्मने नमः

इष्टोपदेश प्रवचन

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी विरचित श्री इष्टोपदेश ग्रन्थ पर
अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
अलग से उपलब्ध अक्षरशः प्रवचन

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है, वह निंद्य–निंदा के योग्य क्यों है? पात्रों को दान देना, देव की पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्य की कारण हैं, वे सब धन के बिना हो नहीं सकती। इसलिए पुण्य का साधनरूप धन निंद्य क्यों? वह तो प्रशंसनीय ही है। इसलिए जैसे बने वैसे धन को कमाकर पात्रादिकों में देकर सुख के लिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषय में आचार्य कहते हैं –

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति।।१६।।

पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय।।१६।।

अर्थ – जो निर्धन, पुण्य प्राप्ति होगी इसलिए दान करने के लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है।

अर्थ – जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिए पात्रदानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी, खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि

वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतटीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है – 'शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते०'

अर्थ – 'सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती हैं'।।१६।।

यहाँ आचार्य कहते हैं :—

निर्धन धन चाहे कहे, करूँ पुण्य दूँ दान।
कीच लिपे पर मानता, मूढ़ किया मैं स्नान॥ १६॥

अन्वयार्थ :- (**यः**) जो (**अवित्तः**) निर्धन (**श्रेयसे**) पुण्य की प्राप्ति के लिए (**त्यागाय**) दान करने के लिए (**वित्तं**) धन का (**संचिनोति**) संचय करता है, (**सः**) वह (**स्नास्यामि इति**) 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर (**स्व शरीरं**) अपने शरीर को (**पंकेन**) कादव से (**विलम्पति**) लपेटता है (अर्थात्, अपने शरीर पर कादव लपेटता है।)

टीका :- जो धनरहित, अर्थात् निर्धन है, वह नौकरी, खेती आदि कार्य से सञ्चय करता है–उपार्जन करता है। वह क्या (सञ्चय करता है) ? वित्त, अर्थात् धन। किसलिए ? त्याग, अर्थात् पात्रदान, देवपूजा आदि (कार्य के) लिए, कारण कि 'त्याग' शब्द में देव–पूजादिक का अर्थ, गर्भित है। किसके लिए त्याग ? कल्याण, अर्थात् अपूर्व पुण्य के लिए और पूर्वोपार्जित पाप के क्षय के लिए।

जिसको चक्रवर्ती आदि की तरह यत्नबिना धन की सिद्धि (प्राप्ति) होती है तो वह धन से पुरुषार्थ से पात्र-दानादिक करे — ऐसा भाव है।

(शिष्य) पूछता है — 'वह क्या करता है?' लपेटता है-लेपता है; वह कौन? वह (त्याग करनेवाला)। किसको (लेपता है)? अपने शरीर को। किसके द्वारा? पङ्क द्वारा-कादव द्वारा।

(शिष्य) पूछता है-'क्या समझकर?' 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर। इसका अर्थ यह है कि-जैसे कोई एक (मनुष्य), 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर अपने निर्मल (स्वच्छ) अङ्ग को (शरीर को) कादव से लेपता है, वह अविचारी (मूर्ख) है; इसी तरह पाप से धनोपार्जन करके पात्रदानादि के पुण्य से उसका (पाप का) नाश करूँगा — ऐसा समझकर, धन कमाने की प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य भी वैसा है (अविचारी है)। किसी भी शुद्धवृति से (मनोवृत्ति से) धनोपार्जन नहीं सम्भवता।

तथा 'आत्मानुशासन' में कहा है कि :—

'सत्पुरुषों की सम्पत्ति, शुद्धधन से' (न्यायोपार्जित धन से) नहीं बढ़ती; नदियों में कभी भी स्वच्छ जल का पूर नहीं आता (अर्थात्, वे वर्षा ऋतु में मलिन पानी से ही भरपूर रहती हैं)। (जैसे, वर्षा ऋतु में नदियों में गन्दे-मलिन जल का पूर आता है; इसी तरह अन्याय से उपार्जित धन से धन में बहुत वृद्धि होती है) ॥१६॥

भावार्थ :- *'पूजा-पात्रदानादि में धन खर्च करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति होगी और पूर्वोपार्जित पाप का क्षय होगा' — ऐसा समझकर, धनहीन मनुष्य, दान के लिए नौकरी, खेती आदि कार्य करके धन कमाता है। (धन कमाने का भाव स्वयं पापभाव है।) वह मनुष्य, 'स्नान कर लूँगा' — ऐसा समझकर, अपने शरीर पर कादव चोपड़ने (लेपने) वाले, मूर्ख मनुष्य जैसा है।*

जैसे, कोई मनुष्य, अपने निर्मल शरीर पर कादव लेपकर फिर स्नान करे तो वह मूर्ख गिना जाता है; इसी प्रकार कोई मनुष्य, धन कमाकर उस धन को दानादि में खर्च करे तो वह मनुष्य भी उसके जैसा ही मूर्ख है, क्योंकि वह यह समझता है कि धनोपार्जन में जो पाप होगा, वह दानादि से उपार्जित पुण्य से नष्ट हो जायेगा, परन्तु यह उसका भ्रम है।

जैसे, वर्षा ऋतु में नदियाँ गन्दे पानी से ही उफनती हैं; वैसे ही पापभाव से धन का उपार्जन होता है; इसलिए धनोपार्जन करने का पापभाव करना और फिर पुण्योपार्जन के लिए उस धन को पूजा-पात्रदानादि शुभकार्यों में मैं खर्च करूँगा — ऐसा अज्ञानभाव करना, मूढ़ता है।

भाद्र कृष्ण ५, मंगलवार २५-९-१९५६, गाथा १६-१७, प्रवचन - १

.... यह तो पूर्व के पुण्य के कारण आया हो, वहाँ जन्में वहाँ उसके आस-पास के समुद्र के पानी में मछलियों में मोती पके। पहले नहीं पके, यह जहाँ जन्मा, वहाँ मछलियाँ ऐसी पके (कि) वहाँ मोती पेट में पके करोड़ों के। इतनी मछलियाँ लाखों-करोड़ों हो जाये और उनमें मोती पके। आस-पास की जमीन के पत्थर की कोठर में नीलमणि पके। जहाँ पत्थर पकते हों, वहाँ उत्तम पुण्यवन्त प्राणी, धर्म आत्मा की दृष्टि करके जिसे कुछ राग मन्द रह गया हो, और उसमें पुण्य बँध गया हो। उस पुण्य के कारण कहीं अवतरित हो (तो) आस-पास के पत्थर की शिलायें नीलमणिरूप हो जाये, परिणम जाये। इसलिए उसे तो यत्न बिना सहज ऐसी लक्ष्मी मिल गयी होती है। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? यह अभी का तो सब समझने जैसा है राजा और सब। पशु कर, जाजिया कर, अमुक कर डाल-डालकर कमाते हैं, यह तो कहीं पुण्य भी सच्चा नहीं है।

वे तो पुण्यवन्त प्राणी आत्मा का भान किये हुए, आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द शुद्ध है, उसका भान किया परन्तु उसमें रमणता पूरी नहीं हुई, इसलिए भव आ गया राग के कारण, परन्तु उस राग में पुण्य बँध गये और पुण्य के योग से ऐसी सामग्री मिले, बिना यत्न के उसे मिलती है। भाई! ऐसा लिखा है।

फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता, जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है। पैसा कमाने का भाव तो पाप ही है। फिर नौकरी करके, वकालात करके, व्यापार करके, हीरा-माणेक के धन्धा करके या चाहे जिस प्रकार का... समझे न? तुम्हारे क्या धन्धा है? उस प्रकार का कपड़े का, किराने का, मणिहारी का। समझ में आया? और या दलाली का, लो न भाई। दलाली का होता है न?

एक-दूसरे के एक-दूसरे के अटक दलालिया। परन्तु यह सब अपने भाव करके फिर पुण्य करूँगा, अनुकम्पा प्राणी की (करूँगा)... समझ में आया? ऐसा भाव सहज पैसा मिला और यह भाव करे तो वह अशुभभाव टलकर इसे शुभभाव होता है। अथवा अशुभ के स्थान नहीं, तब शुभभाव होता है।

तब कहते हैं कि कोई ऐसा कहे कि परन्तु पैसा पैदा करने में हमारी शुद्ध बुद्धि है। हमारी कहीं बुद्धि की अशुद्धता नहीं है। हमारा हेतु दूसरा है, ऐसा भाई कहते हैं। हमारे तो फिर पुण्य करना है, ऐसा हेतु है। पैसा पैदा करने में। तो (कहते हैं) **शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता...** आचार्य कहते हैं कि शुद्ध वृत्ति पैसा पैदा करने में हो सकती ही नहीं। पैसा पैदा करने में मलिन वृत्ति ही है, तृष्णा ही है, लोभ ही है। कमाने का भाव ही लोभ है। फिर और करूँगा, नहीं करूँगा का प्रश्न बाद में है। पैसा मेरे पास आवे, ऐसा ममत्वभाव ही पहला लेप कर पड़ा है।

श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं कि **सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है।** देखो! क्या कहते हैं? ज्ञानी पुरुष को भी लक्ष्मी जो मिलती है, उसे भी जरा राग तो लक्ष्मी कमाने का या अमुक भाव तो होता है। यह राग हो, तब पूर्व का पुण्य हो तो मिलती है, इसलिए **शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गन्दे पानी से भरी रहती हैं।** दूसरे प्रकार से कहें तो स्वच्छ पानी से नदी पहले पूरी भरी हुई नहीं होती। भाई! क्या कहा? नदी दो पूर आवे और अकेला स्वच्छ पानी हो, ऐसा होता ही नहीं। वह फिर घटता मैल बैठकर पानी भले घटे। परन्तु दो पूर जब नदी आयी हो और पानी अकेला निर्मल हो, ऐसा होता ही नहीं। उसमें मैल का जब... होता है और मैला पानी और मैल गिरे, तब दो पूर आता है। क्या कहा, समझ में आया इसमें?

इसी प्रकार किसी की बुद्धि में शुद्ध बुद्धि है और मैं पैसा पैदा करूँ और मेरी लक्ष्मी के ढ़ेर हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। उस लक्ष्मी की वृद्धि में मलिनता के परिणाम बुरे भाव पड़े हैं। देखो! आचार्य न्याय देते हैं। बराबर है इसमें? उत्तमचन्दभाई! कहते हैं कि **सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है।** अच्छे भाव से ही लक्ष्मी मिलती है, ऐसा नहीं है। क्योंकि लक्ष्मी कमाने का भाव, कमाने का भाव ही

पाप है। **यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं।** इसका अर्थ यह लेना। नदी परिपूर्ण हो और स्वच्छ जल से भरी हुई हो... होवे कहाँ से ? वह तो नितर गया हुआ पानी और नीचे मैल हो गया और नितर गया हुआ पानी कहीं आगे जाए साधारण नदी में। एकदम वह नितरा हुआ आ जाये बंध फूटे और बंध टूटा हो (तो) भरे। परन्तु पहले जहाँ पूर भरा था जहाँ, वहाँ तो मलिन पानी आये बिना उसका भराव हो नहीं सकता। ऐसा होगा न ? वजूभाई ! यह तालाब-बालाब के पानी में क्या होगा ?

ऐसा कहते हैं कि पैसा पैदा करने में अकेला पापभाव पहला है। फिर उसे तू लक्ष्मी का उपयोग ऐसा करूँ और ऐसा करूँगा और पुण्य करूँगा। बड़ा मूढ़ और अविवेकी है। उसे आत्मा... अरे ! वह धन की क्रिया वह जड़ की (है) मेरी नहीं। मरते हुए पचास लाख हों, विचार हुआ (कि) यह दो लड़के हैं। पच्चीस-पच्चीस लाख इन्हें आयेंगे, इसकी अपेक्षा मैं थोड़ा मेरा भाग तो पाडूँ। मैं एक पाँच-पाँच लाख बापू तुमको पच्चीस-पच्चीस नहीं, बीस-बीस आयेंगे। मुझे दस लाख देने हैं, दस लाख देने के भाव हुए। भाव हुए और जीभ नहीं चली। लचकायी। कहा, समझ में आया ? वह तो पर क्रिया है। तेरे आधीन नहीं। और लचक और लवो... लवो समझते हो न भाषा ? वह भाषा जरा तोतली होने लगी। उसमें कुछ प्रभावना खाते, अनुकम्पा खाते, सच्चे धर्म खाते, शास्त्र खाते देना। ऐसा जरा कुछ बोला गया तोतला-तोतला। वहाँ लड़का दूसरा अर्थ करे। बापू ! यह अभी याद करने जैसा नहीं। अभी याद करने जैसा नहीं। अभी तो भगवान का नाम याद करो। वहाँ उसकी तैयारी हो गयी हो जीभ लचकने होने की। भाषा संक्षिप्त होने की तैयारी हो गयी। वह समझा कि अब कुछ लम्बा करेगा नहीं। बापू ! यह दस लाख, दस लाख अभी (नहीं किया जाता), होना हो, वह होगा दस लाख का। आने होंगे तो आयेंगे और जाने होंगे तो जायेंगे। वह कहे, परन्तु ऐ.. मैं कुछ कहता हूँ और यह क्या बोलता है ? ऐसा बनता है। मरते हुए वह कुछ कहना चाहे तो लवावळयो तो समझे नहीं। बापू ! दस लाख का होना होगा, वह होगा परन्तु तुम तो अब आत्मा का सम्हालो। वाह रे वाह ! वह कहे, भारी भाई निकली इसकी। फिर बोलने की आदत न हो और अन्दर खेद हो। यद्यपि बोले तो भी वह पीछे वाला इसे पागल ही गिने। अभी तक किया नहीं और अभी करने को कहाँ निवृत्त हुआ ? पचास लाख में से दस लाख दूँ।

यहाँ कहते हैं कि कदाचित् उसे भाव हुआ, क्रिया नहीं हुई तो उसके भाव का पुण्य है, वह जाता नहीं है और इसने कहा और उसने किया तो उसका पुण्य कहीं इसे नहीं आता, इसके भाव किये, इतना इसे पुण्य आता है। वे नया करे राग घटाकर तो इसे वह पुण्य हो। न (करे तो) उसने पिता का विश्वासघात किया। पिता ने कहा उसका विश्वासघात उसने किया तो उसका पाप उसे लगेगा।

यहाँ तो कहते हैं कि तेरे आत्मा को लक्ष्मी कमाकर पैदा करूँ अथवा लक्ष्मी कमाने में पाप नहीं, हमारा हेतु फेर है, यह तेरी दोनों मान्यतायें खोटी हैं। इन दो मान्यता की भाई बात कही। कहो, समझ में आया? भोगीभाई!

पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय।।१६।।

इसमें यह श्लोक नहीं डाला। उन्होंने एक डाला है। भाई का—शीतलप्रसाद का।

पुण्य हेतु दान धर्म में अर्थात् पुण्य में खर्च करूँ। निर्धन इसके लिये निर्धन धन को संचय करे। **'स्नान हेतु निज तन कुधी' 'कुधी'** अर्थात् मूर्ख (बुद्धि)। **'कुधी'** मूर्खबुद्धि। वह स्नान करके... फिर स्नान करूँगा, पहले कीचड़ चुपड़ लूँ - ऐसा वह मूर्ख है। उसे कुछ भी विवेक नहीं है।

उत्थानिका – फिर शिष्य कहता है कि भगवन्! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है, और दुःख का कारण होने से धन निंद्य है, तो धन के बिना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते, इसलिए उनके लिये धन होना ही चाहिए, और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। इस विषय में आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय है,' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं, यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'भोग और उपभोग के लिये धन साधन है,' वह जो तुम कह रहे हो। सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों? तो उसके लिये कहते हैं –

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान कामं कामान् कः सेवते सुधीः।।१७।।

भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ़।
अंत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ़।।१७।।

अर्थ – आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले तथा अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान–समझदार–ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा?

विशदार्थ – भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुख के कारण होते हैं। इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति अर्थात् बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है – 'अपि संकल्पिताः कामाः०'

'ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग, प्राप्त होते जाते हैं, त्यों त्यों मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैलती जाती है। मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले। उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है, कि अमुक और मिल जाय। उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा विश्व के समस्त ही पदार्थों को चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जायँ। परन्तु यदि यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जाय, तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा। इसलिए वे सेवन करने योग्य हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेने पर अन्त में छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेने पर भी मन की आसक्ति नहीं हटती,' जैसा कि कहा भी है – 'दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०'

'यद्यपि अग्नि घास, लकड़ी आदि के ढ़ेर से तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय, परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबरदस्ती है।' और भी कहा है – 'किमपीदं विषयमयं०'

'अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है कि जिसे जबरदस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भव में नहीं चेत पाया है।'

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्त में क्लेश–तृष्णा एवं आसक्ति के कारणभूत इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान इंन्द्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा? कोई भी नहीं।

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो यह बात सुनने में नहीं आती है। अर्थात् बड़े–बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगों को कौन बुद्धिमान्–तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय? इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाय? आचार्य जवाब देते हैं – कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ 'कामं अत्यर्थं०' आसक्ति के साथ रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। तात्पर्य यह है कि चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगों को त्याज्य–छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है, वह ज्ञान–वैराग्य की भावना से इन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों को वश में कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिबद्ध–तैयार हो जाता है – जैसा कि कहा गया है – 'इदं फलमियं क्रिया०'

'यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम–सिलसिला है, यह खर्च है, यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातों पर ख्याल देते हुए बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न किया करता है। मूर्ख ऐसा नहीं करता।'।।१७।।

शिष्य फिर से कहता है — 'भोग और उपभोग के लिए।' हे भगवन! जो इस प्रकार धनोपार्जन में प्राय: पाप होता है और धन दु:ख का कारण है और इससे वह निंद्य है तो धन के बिना, सुख के कारणरूप भोग–उपभोग असम्भवित बनते हैं; इसलिए उनके (भोग–उपभोग के) लिए धन हो तो वह प्रशंसनीय है।

भोजन, ताम्बूल आदि भोग और वस्तु, स्त्री आदि उपभोग है। भोग और उपभोग–वह भोगोपभोग, उनके लिए धन होना योग्य है — ऐसा शिष्य का तर्क है।

यहाँ आचार्य कहते हैं–यह बात भी नहीं है। 'पुण्य के कारण, धन प्रशंसनीय है' — ऐसा जो तूने कहा था, उस प्रकार प्रशंसनीय नहीं हो सकता तथा भोग–उपभोग के लिए उसका (धन का) साधन प्रशंसनीय है — ऐसा जो तूने अभी कहा है, वह भी कैसे हो सकता है? यदि तू कहे 'क्यों?' तो कारण यह है कि :—

भोगार्जन दुःखद महा, प्राप्ति समय अतृप्ति।
भोग-त्याग के समय कष्ट, सुधी छोड़ आसक्ति॥ १७॥

अन्वयार्थ :- (**आरम्भे**) आरम्भ में (**तापकान्**) सन्ताप करनेवाले (**प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकाम्**) प्राप्त होने से पर अतृप्ति करनेवाले और (**अन्तेसुदुस्त्यजान्**) अन्त में महा कठिनाई से भी छोड़ा न जा सके, ऐसे (**कामान्**) भोगोपभोगों को (**कः सुधीः**) कौन बुद्धिशाली (**कामं**) आसक्ति से (**सेवते**) सेवन करेगा।

टीका :- कौन? कोई बुद्धिशाली-विद्वान सेवन नहीं करेगा, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा भोगेगा नहीं। किसको? भोगोपभोगों को।

कहा है कि '**तदात्त्वसुखसंज्ञेषु.....**'

'उन सुख नाम से पहिचाने जानेवाले भोगों में अज्ञानी (हेय-उपादेय का विवेक नहीं करनेवाला) अनुराग करता है, परन्तु परीक्षाप्रधानीजन भलीभाँति परीक्षा करके हित का ही अनुसरण करते हैं, (जिससे हित हो, उसका ही अनुसरण करते हैं)।'

कैसे (भोगोपभोगों को)? सन्ताप करनेवाले, अर्थात् देह, इन्द्रियों और मन को क्लेश के कारणरूप। कब? आरम्भ में-उत्पत्ति के क्रम में, क्योंकि अन्नादि भोग्यद्रव्य (वस्तु) का सम्पादन करने में खेती आदि सम्बन्धी बहुत क्लेश रहता है, यह सर्वजनों में सुप्रसिद्ध है। तब कहते हैं कि भोगने में आते हुए भोग तो सुख के कारण हैं; इसलिए वे सेवन योग्य हैं। तो (उत्तर में) कहते हैं — '**प्राप्तावित्यादि**' — प्राप्ति के समय, अर्थात् इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर, वे (भोग) अतृप्ति करनेवाले, अर्थात् बहुत तृष्णा उत्पन्न करनेवाले हैं।

(ज्ञानार्णव ग्रन्थ में) कहा है कि — '**अपि संकल्पिताः.....**'

'जैसे-जैसे सङ्कल्पित (इच्छित) भोगोपभोग प्राप्त होते हैं, वैसे-वैसे मनुष्यों की तृष्णा (बढ़कर) सम्पूर्ण विश्व में फैल जाती है।'

(शिष्य) कहता है, तब इच्छानुसार उन (भोगोपभोग को) भोगकर तृप्त होने पर, तृष्णारूपी सन्ताप मिट जायेगा; इसलिए वे सेवन-योग्य हैं।

(आचार्य) कहते हैं-अन्ततः उन्हें छोड़ना मुश्किल है, अर्थात् भोगने के पश्चात्

उनको छोड़ना अशक्य है, कारण कि उन्हें अच्छी तरह भोगने पर भी, मन की आसक्ति का निवारण मुश्किल है।

(चन्द्रप्रभकाव्ये में)कहा है कि — '**दहन.....।**'

यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदि के ढ़ेर से तृप्त हो जाए और समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाए, परन्तु पुरुष इच्छित सुखों से तृप्त नहीं होता। अहो! कर्म की ऐसी कोई (विचित्र) बलजोरी (बलवानपना) है।'

और भी कहा है — '**किमपीदं.....**'

'अहो! यह विषयरूपी विष कैसा अति विषम (भयङ्कर) है कि जिससे यह पुरुष, उसका भव-भव में अनुभव करने पर भी (विषयसुख के अनुभव से उत्पन्न होते दु:खों का अनुभव करने पर भी) उसका मन चेतता ही नहीं।'

शिष्य पूछता है — तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को न भोगा हो — ऐसा सुनने में नहीं आया है (अर्थात्, यह विदित है कि तत्त्वज्ञानी भी भोगों को भोगते हैं); तो 'कौन बुद्धिमान भोगों का सेवन करेगा (भोगेगा)!' — ऐसे उपदेश में किस प्रकार श्रद्धा की जाए?

आचार्य कहते हैं — (ज्ञानी), '**कामम्**', अर्थात् अतिशयरूप से (आसक्तिपूर्वक -रुचिपूर्वक उनका सेवन नहीं करता)। यहाँ तात्पर्य यह है कि —

चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने में असमर्थ होने पर भी, तत्त्वज्ञानी, भोगों को हेयरूप समझकर (अर्थात्, वे छोड़ने योग्य हैं — ऐसा समझकर) सेवन करता है। जिसका मोह का उदय मन्द पड़ गया है — ऐसा वह (ज्ञानी), ज्ञान और वैराग्य की भावना से इन्द्रियसमूह को वश करके (इन्द्रियों की ओर के झुकाव को संयमित करके), एकाएक (शीघ्र) आत्मकार्य के लिए उत्साहित होता है।

तथा कहा है कि — '**इदंफलमिय.....**'

'यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम है, यह व्यय (हानि-खर्च) है, यह आनुषङ्गिक (भोगों को अनुसरता) फल है, यह मेरी दशा है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है — इन सब बातों पर पूरा ख्याल रखकर, बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न करता है, परन्तु अन्य (कोई मूर्ख) वैसा नहीं करता।'

आचार्य फिर से कहते हैं — 'यदर्थमेतदेवंविधमिति।'

भावार्थ :- *भोगोपभोग आदि-मध्य-अन्त में क्लेश, तृष्णा और आसक्ति का कारणभूत हैं। भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करने में, कृषि, नौकरी इत्यादि कारणों से आरम्भ में शरीर, इन्द्रियों और मन सम्बन्धी क्लेश होता है-अत्यन्त कष्ट पड़ता है। जब मुश्किल से भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, तब उनको भोगने पर भी तृप्ति नहीं होती; पुनः-पुनः उन्हें भोगने की इच्छा होती है और उससे चित्र व्याकुल रहता है। अतृप्तिवश उनको (भोगों को) छोड़ने का भाव नहीं होता।*

जैसे, अग्नि में कितना ही काष्ठ-तृण डालो, तो भी वह तृप्त नहीं होती और समुद्र, सैकड़ों नदियों के पानी से भी तृप्त नहीं होता; इसी तरह मनुष्य की तृष्णा अनेक भोगों से भी कभी तृप्त नहीं; अपितु बढ़ती जाती है।

क्लेशजनक, अतृप्तिकारक और आसक्ति के कारण छोड़ना मुश्किल — ऐसे भोगों का कौन बुद्धिमान पुरुष सेवन करेगा? अर्थात्, कोई बुद्धिमान पुरुष सेवन नहीं करेगा।

*यहाँ शिष्य का **प्रश्न** है कि — यदि भोगों के भोगने के भाव से अहित हो और वे सेवन करने योग्य नहीं हैं — ऐसा यदि तुम्हारा उपदेश हो, तो भरत जैसे ज्ञानी पुरुषों को भी भोग भोगते सुनने में आया है; अतः यह बात आपके उपदेश के साथ असङ्गत ठहरती है, उसका कैसे (मेल बैठेगा)?*

***समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं कि-यद्यपि ज्ञानी पुरुष, चारित्रमोहनीयकर्म के उदयवश भोगों को भोगने का भाव छोड़ने में असमर्थ हैं परन्तु उनको उनके प्रति आन्तरिक राग नहीं है। वे, श्रद्धा और ज्ञान में राग को अहितकर मानते हैं, इस कारण जिस प्रकार अज्ञानी, भोगों को हितकर समझकर उनको एकताबुद्धि से भोगता है, उस प्रकार भोगने का भाव, ज्ञानी को नहीं है; उसको परद्रव्य के स्वामीपने का और कर्तापने का अभिप्राय नहीं है। रागरूप परिणमन है, वह चारित्र की कमजोरी है; उसका वह ज्ञाता है; इसलिए उसके अज्ञानरूप कर्तापना और भोक्तापना नहीं है। इस अपेक्षा से ज्ञानी, भोगों का सेवन करते हुए भी, सेवन नहीं करता, क्योंकि भोगने की क्रिया के समय भी उसका ज्ञानरूप परिणमन नहीं छूटता। अस्थिरता के कारण दिखनेवाले राग का उसको अभिप्राय में निषेध है।*

गाथा - १७ पर प्रवचन

फिर शिष्य कहता है कि भगवन्! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है, और दुःख का कारण होने से धन निन्द्य है,.... यदि प्रभु! लक्ष्मी पैदा करने में बड़ा पाप होता है, लक्ष्मी पैदा करने में बड़ा पाप और दुःख का कारण खेद (होता है)। शरीर में पसीना उतरे, वहाँ दो टाईम का एक टाईम हो जाये। कहाँ का कहाँ जाये। कपास तोड़ने जाना चैत्र के बारह बजे तो भी वह क्या ऊपर कहलाता है? कांटो। कांटो लेकर। पचास हजार, लाख की पूँजी हो, परन्तु कहते हैं, वहाँ सस्ता मिलता है, पचास मण, सौ मण। नहीं तो दूसरा आकर ले जायेगा। साढ़े छह में। मुझे मिलेगा साढ़े पाँच में। एकदम लेने जाता है। एकदम। बारह बजे हों, बांट और तोलने का कांटा लेकर नहीं जाते बनिये? ...भाई! चैत्र महीने में बारह बजे जाये बांट और तराजू, क्या है? पैसा पैदा करना है। आहाहा! शरीर में धूप पड़े, प्यास लगे, छतरी हो नहीं। कांटा उठाया हो, छतरी कहाँ रखनी सिर पर? यह केलिया समझे न? वह तौलने का होता है न! उसे... लेकर जाते हैं। यह तो एक दृष्टान्त है, हों! सब केलिया और कांटा ही है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह केणया और काँटा है हीरा-माणेक साधारण लोगों को, कुवड़ जैसी बाई निकली हो और बढ़ा व्यापार जोरदार हो और तो भी एक चिमनी-बिमनी चाहिए हो। क्यों माँ! होवे साधारण... क्यों माँ? क्या लेने निकलीं? कहे, कोंटो चाहिए चिमनी का। आओ.. आओ, माँ मेरे पास। क्योंकि वह पाँच आने का ले जाये तो दो आना मिले, ऐसा हो। आहाहा! वहाँ हो गयी माँ।

कमाने के लिये तो मक्खन चुपड़ना पड़े न कुछ? ऐसे हीरा-माणेक लेने आया हो तो कौन आया और कौन... वह बुद्धि बिना का राजा हो। कि उसरूप से महाराज साहेब पधारो... पधारो। कहना पड़े या नहीं इसे? महाराजा कहे। होवे तो बुद्धि का वारदान। रानी और राजा दोनों। परन्तु उनके पास पैसे पाँच करोड़, दस करोड़ हों और पाँच, पचास हजार, लाख के हीरा लेने आवे तो कहे आओ माँ... आओ माँ... बैठो। कुर्सी डालो। ऐई... इसे

डाल दो ऐसे। अच्छी गद्दी डाल दो। तकिया डाल दे, अमुक कर दे। उसमें से दस हजार, बीस हजार पैदा होनेवाले हों तो कहता है कि शरीर को खेद, मन में राग का खेद और ज्यादातर कमाने में बड़ा पाप होता है। इसलिए तो निन्दायोग्य है।

तो धन के बिना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते,... अब बात आयी। उस पुण्य की बात गयी, फिर कमाने में पाप है, यह बात स्वीकार की वापस विशेष। कमाने में पाप है और पाप करके पुण्य करना, वह उचित नहीं है। अब बात आयी परन्तु कहता है, यह पुण्य होगा तो यह भोग-उपभोग मिलेंगे, सामग्री मिलेगी, खाने, पीने, तकिया, बँगला, ये मोटरें मिलेंगी। भले पाप हो कमाने में, परन्तु मिलेगा तो सुख का साधन न? अब यहाँ आये।

शिष्य ने यहाँ प्रश्न किया। परन्तु पुण्य करूँगा। भले पाप तो है, भाई! बात सत्य। परन्तु पाप है, किन्तु पाप के कारण वापस यह पुण्य होगा, कमाई में उसे पैसे मिलेंगे। पैसे के कारण अपने को भोग-उपभोग मिलेंगे। भोगनेयोग्य वस्तु क्या? एक बार भोगा जाये वह भोग और बारम्बार भोगा जाये वह उपभोग। एक बार अर्थात् दाल, भात, रोटी, सब्जी एक बार भोगी जाती है। लक्ष्मी, गहने, शरीर, कुटुम्ब, मकान, बारम्बार भोगने में निमित्त होता है। बारम्बार भोगने का कारण, उसे उपभोग कहते हैं। और दाल, भात भी एक बार खायी जाती है। दो बार खायी जाती है? यह दाल, भात एक बार खाकर दूसरी बार खाये जाते हैं? तो दाल, भात, रोटी, सब्जी, चाय, दूध तो इसने पिया एक बार खाया गया। और गहने, वस्त्र, स्त्री, मकान, किराया, गहने, वस्त्र, हीरा-माणेक यह बारम्बार पहनना, वह उपभोग कहलाता है। यह पुण्य बिना तो—धन बिना तो नहीं मिलता। **इसलिए उनके लिये धन होना ही चाहिए...** भाई! अच्छी सामग्री हो तो उसके लिये तो धन चाहिए न? **इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिए।** इसके लिये धन को अच्छा मानना चाहिए। यह पैसा मिले, यह मिले और पैसा मिले तो भोग-उपभोग (भोगे जायें)। निर्धन को मिले? निर्धन को अच्छा डॉक्टर भी सामने नहीं देखता। पैसेवाले के तुरन्त चलो भाई, सेठ बुलाते हैं इंजेक्शन के लिये। पाँच रुपये मिलेंगे। एकदम आता है। कोई भी व्यक्ति अन्दर (आ जाये)।

एक कहता था सेठ एक गाँव का। हम पैसेवाले, हमें ज्योतिषी पूछते हैं। सब हमें पूछने आते हैं। ऐसा कोई कहता था एक व्यक्ति। पूँजी तो दो-तीन लाख की थी। परन्तु ऐसे दानी व्यक्ति था। पैसा बहुत खर्च करे और बहुत लाखों दिये हुए। पूँजी थोड़ी और दान थोड़ा-थोड़ा करते बहुत हुआ। फिर गर्म मस्तिष्क में हो गया। फिर कहता है, देखो! इस जगत के जितने खिलाड़ी, जितने ज्योतिषी, जितने सब बाहर की कारीगरी और कला बतानेवाले, वे सब हमारे पास आते हैं। सेठ इसमें टिकिट लेनी पड़ेगी। इतने पैसे तुम्हारे भरने पड़ेंगे। सब हमारे गुलाम, इसलिए हमारी लक्ष्मी कुछ जगत में ऊँची लगती है। समझ में आया? मोहनभाई! यह एक आया था,... वह आया था न राजकोट में, ९० के वर्ष। राजकोट में। लुहाना का लड़का था न बड़ा, एक जहरीला सर्प यहाँ जीभ पर कटवाता, क्योंकि उसे सर्प चढ़ता नहीं। जीभ पर उसे उस प्रकार का पहले से था। क्या कहलाता है? बिल्ली को होता है न पैर में? ऐसा उसे जीभ में पहले से था। छोटी उम्र में से जंगल में चला गया था। फिर एक बाबा ने उसकी जीभ बाहर निकालकर देखी कि इसे सर्प काटे ऐसा नहीं लगता। इसलिए एक छोटा साँप लाकर ऐसे जीभ में कटवाया छोटी उम्र में परन्तु (जहर) चढ़ा नहीं। करते-करते... चढ़ गया काला नाग कठोर हो उसे ऐसे कटवाता और वह वहाँ आया था ९० में। मेरे पास आया था। यह काल का खेल है। मेरी तीन-तीन रुपये की टिकिट है और यह सब सेठिया के पास आता हूँ मेरी टिकिट देने। परन्तु सर्प कैसा? कि काला नाग। इसके घर का नहीं।

एक गाँव का बोहरा था। उसे सर्प को पकड़ने की ताकत। और सर्प कहाँ रहे, इसकी खबर थी। काला नाग कठोर सर्प ले आया जंगल में से। देखा, उसने लड़के से कहा कि यह सर्प कड़क है। हाँ! मेरे बेहोशी चौबीस घण्टे रहेगी। कोई मुझे मारकर जलाना नहीं। असर हो गया। मुझे ख्याल बाहर बात चली गयी है। क्योंकि कड़क है। परन्तु मरूँगा नहीं। ऐसे भी वे सेठिया के गुलाम होकर आते होंगे। सेठ ने कहा, देखा! यह मेरे पास टिकिट लेने आया। यह सब पैसेवाले के गुलाम हैं। फिर सर्प लाकर कटाया और सब लोग ऐसे हाथ में रखकर... यहाँ काटे तो वहाँ फिर जीभ चाटे। यहाँ यदि वह डंक मार दे तो जीभ निकाले तो वहाँ कटवा दे। फिर बहुत लोग तो ओहोहो! जवान लड़का था। ... उसे फिर मिले वे... क्या कहलाते हैं? ... मिलकर। फिर दूसरे दिन अभी नशा थोड़ा था

और मेरे पास आया था। लो! साहेब! इस प्रमाण नशा तो है थोड़ा। परन्तु मुझे कठोर होता नहीं। मुँह में जीभ में ही मुझे... है। ऐसा ही पहले से जन्म से। परन्तु ऐसे सेठिया के गुलाम। पैसे बड़े हुए या नहीं? खेल करनेवाला भी तुम्हारे पास आवे, लो! साहेब! कुछ टिकिट लेना, हों! हुकम बुलाकर दो-दो रुपये की टिकिट और पचास तो तुम्हारी काटनी पड़ेगी। ज्योतिषी भी तुम्हारे पास (आते हैं)। भाई! कुछ तो तुम्हें देना पड़ेगा। तुम्हारा मुहूर्त करना है न पहले हमें। पहला बताना, लो। ऐसे पैसेवाले के गुलाम दूसरे सब। इसलिए पैसे की आवश्यकता है या नहीं? यह भोग-उपभोग प्राप्त करने के लिये आवश्यक है या नहीं? ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया।

इस विषय में आचार्य कहते हैं कि यह बात भी नहीं है अर्थात् पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय है, यह जो तुमने कहा था,... पुण्य के कारण से लक्ष्मी मिले और लक्ष्मी मिले तो भोग-उपभोग मिले। इसलिए उसे—पुण्य को अच्छा कहना या धन को प्रशंसनीय कहना, **सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं,...** ऐसा ख्याल करके। पहले पुण्य के लिये था। अब भोग-उपभोग के लिये है। अच्छे भोग-उपभोग मिले। ऐई! चैन से रहें। फिर निवृत्ति होगी तो धर्मध्यान करेंगे। पैसा नहीं हो और निवृत्ति ठेठ तक बीड़ियाँ जलाना पड़े। आठ आने की, रुपये की। अभी होती है न हजार। रुपये, डेढ़ रुपये की। हर रोज हजार बनावे तो डेढ़ रुपया मिले। अब उसे वह बेचारा निवृत्ति कब पावे? परन्तु यदि अपने पहले पैसा-बैसा कमाया और भोगसामग्री और उपभोग सब होवे तो निश्चिन्तता से धर्मध्यान हो। यह कहते हैं कि मूढ है। पैसे के पहले ही कमाने के भाव पाप हैं और धन से धर्म-बर्म होता नहीं। पैसेवाले तो बहुत हैं (परन्तु) निवृत्ति कुछ लेते नहीं। और निर्धन भी निवृत्ति लेते हैं। बारह महीने में पाँच सौ पैदा होते हों, दो व्यक्ति हों तो हमारे कुछ आवश्यकता नहीं है। हमारे पाँच सौ का ब्याज आता है। पाँच सौ का ब्याज आवे, दोनों व्यक्ति खायें ढाई सौ-ढाई सौ। एक पाई की आवश्यकता नहीं। कमाने का काम नहीं। ऐसे भी हैं। हैं या नहीं? भीखाभाई! और यहाँ महीने में पाँच हजार-दस हजार मिलते हों ब्याज के। तो भी बैगार छोड़ते नहीं हों, कमाना, कमाना और कमाना। इसका कुछ ठिकाना नहीं रहता।

इसलिए कहते हैं कि **तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित**

नहीं, यह पहले ही बताया जा चुका है। भोग और उपभोग के लिये धन साधन है, यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है,... कहो, भोग-उपभोग का धन साधन, यह भी बात नहीं है। **यदि कहो, क्यों ? तो उसके लिये कहते हैं**- देखो अब।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान कामं कामान् कः सेवते सुधीः।।१७।।

ओहोहो ! गाथा बहुत लम्बी है। **आरम्भ में सन्ताप के कारण...** एक तो मानो पैसा पैदा करने में बड़ा सन्ताप है। आकुलता लगी रहती है। इसका ऐसा हो, विचार भी कैसे आवे ? समझ में आया ? उस बनिये का दृष्टान्त देते हैं न ? एक बनिया जाता था घी लेने कहीं। घी लेने जाता था तो ऐसा कि वह सुकाल था सब तो घी हमें सस्ता मिलेगा। तो सस्ता घी मिला और फिर मानो लेने से पहले कि भाई सुकाल पड़े और बरसात बहुत हो न तो घी सस्ता मिले। वह जहाँ घी लेकर आया, तब विचार बदले। एक घर में उतरा पहले जाते हुए। उस बेचारे को... फिर से उतरा कि अब तो कुछ यदि दुष्काल पड़े और बरसात-बरसात न हो तो पशु-वशु कम हो जायें तो घी महँगा हो तो पुडला के भाव बढ़े। अर र ! बुद्धि देखो। बुद्धि में क्या आया ? और एक चमड़ा लेने जाता था, वह भी उस मनुष्य के घर में उतरा था। अरे ! समझ में आता है न ? सुकाल होवे तो चमड़ा कम मिलता है। दुष्काल होवे तो चमड़ा बहुत मिलता है। दुष्काल होवे तो उसे चमड़ा बहुत मिले। ढोर बहुत मर जाये न। और सुकाल होवे तो कम मिले। दोनों की भावना में अन्तर। जब चमड़ा लेने जाता हो, तब दुष्काल हो तो ठीक। चमड़ा लेकर आया और फिर कहे सुकाल पड़े न, तो चमड़ा महँगा हो। देखो यह भाव ! मोहनभाई ! होनेवाला तो होता है परन्तु इसकी कल्पना के घोड़े... घोड़े दौड़ाता है।

कपड़ा ले गया पाँच लाख का और उसमें भाव जब बढ़ने लगे। बहुत प्रसन्न (हो)। परन्तु यह गरीब मनुष्य को हैरान होनेवाले... परन्तु अपने तो डेढ़ गुने होते हैं। साढ़े सात लाख होंगे, लो ! और जब पाँच लाख दिये। घर में से कपड़ा दे दिया हो और भाव घटे तो अच्छा हुआ अब। हमने बेच डाला। फिर घटे। कहो, धर्मचन्दभाई ! दृष्टि में अन्तर है या दूसरा कुछ ? बाकी तो होना हो, वह होता है। इसकी कल्पना। अब भाव घटे तो दिक्कत नहीं। परन्तु क्या तू किसकी कल्पना करता है ? पाँच लाख का माल लेकर अब बढ़े और

डेढ़ गुने हों तो अच्छा। परन्तु इस गरीब को महँगा मिले और गरीब के पास नहीं है। उसका चाहे जो हो, परन्तु अपने घर तो भरते हैं। ऐसे जिसके भाव के लिये पाप करके कमाना, वह बुद्धि ही अच्छी नहीं है। उससे फिर भोग सुख मिलेगा, ऐसा मानकर कमाना, वह उचित नहीं है। क्योंकि आरम्भ में सन्ताप, शुरुआत में सन्ताप, शुरुआत में सन्ताप। समझ में आया ?

भण्डार हो एक पाँच हजार तिल के बोरी की। और जब बेचना हो, तब भाव नहीं घटे तो अच्छा। ध्यान रखना भण्डार का। वरसात-बरसात पड़े नहीं, ध्यान रखना। बिक गयी और उसको रुपये घर में आये। भण्डार भले ऐसा का ऐसा पड़ा हो। ताला उसका हो। अब भले ऊपर से चूवे और भले ऊपर बिजली गिरे और भले भाव घट जाये। क्या हुआ परन्तु यह। चीज़ तो वह की वह है। अभी तो ताला चाबी बदले। इसके हाथ में से उसके हाथ में गयी। पैसे इसके घर में गये। अब अपने तिल कहाँ है ? अब नुकसान जाये तो उसके और वर्षा गिरे और बिगड़ जाये तो उसके। अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर है परन्तु वह बाहर में होना हो, वह होगा। मुझे यह सन्ताप-क्लेश होता है पर में, वही मुझे दुःखदायक है। मेरी सन्तापरहित चीज़ आत्मा है, उसकी पहिचान और श्रद्धा-ज्ञान करूँ, ऐसा आरम्भ करनेवाले को यह विचार नहीं रहता। इसलिए पैसा पैदा करके भोग-सुख मिलेगा, यह तेरी उचित वृत्ति नहीं है। इसका स्पष्टीकरण विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

भाद्रकृष्ण १२, सोमवार ०१-१०-१९५६, गाथा - १७, प्रवचन - २

पैसा... लक्ष्मी में माल नहीं। यह उसका उत्तर १७वीं गाथा में देते हैं। यहाँ तत्त्वदृष्टि की बात है, हों! मात्र बाह्य लक्ष्मी छोड़ दे, वह यहाँ वस्तु नहीं है। परन्तु लक्ष्मी से हमें भोग और उपभोग मिले, ऐसी बुद्धि है, वही मिथ्यादृष्टि है। अज्ञानी है। हमें यह लक्ष्मी मिले और लक्ष्मी से अच्छी सामग्री मिले। इसकी बुद्धि में ही विपरीतता और भ्रमणा पड़ी है। भोग-उपभोग का साधन धन और धन के कारण वह मिलती है, इसलिए सुख है, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है।

तब कहते हैं कि लक्ष्मी प्राप्त करने में शुरुआत में सन्ताप का कारण। लक्ष्मी उपार्जन करने में भी सन्ताप। वहाँ शान्ति-वान्ति नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी ओर का प्रारम्भ और शुरुआत करे तो उसमें श्रद्धा-ज्ञान की उसे शान्ति मिले। परन्तु लक्ष्मी कमाने में तो पहले ही शुरुआत में होली-सन्ताप है, कहते हैं। सत्य होगा? मोहनभाई! लगा था सन्ताप उस दिन? वही यह कहते हैं। यह प्रश्न अभी का नहीं, यह तो अनन्त काल से बात चली आती है।

आत्मा एक समय में आनन्द और ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करता नहीं और शान्ति करता नहीं, उसे लक्ष्मी कमाकर हमें भोग-उपभोग मिलेंगे और हम जगत में बड़े कहलायेंगे—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे कमाने में शुरुआत में ही सन्ताप है, कहते हैं। अधिक लक्ष्मी आयेगी तो हमको दूसरे... सब पूछेंगे। पाँच में पूछा जाऊँगा, लो! गरीब को कोई नहीं पूछता। ...कहते हैं कि निन्दनीक है, धन निन्दनीक है। धन में माल नहीं। तो हमें यह बात जँचती नहीं। हमें तो उसमें मजा लगता है।

कहते हैं कि धन कमाने की शुरुआत में सन्ताप, **प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले...** यह पचास लाख मिले तो करोड़ की अतृप्ति, ऐसा कहते हैं। जितना मिला, उसमें सन्तोष नहीं और आगे बढ़ने की ही बात, बढ़ने की ही बात। तृष्णा में और अतृप्ति में। तथा **अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते,...** अन्त में तो मरने के समय यह छोड़ना... हाय.. हाय.. इतनी व्यवस्था करता जाऊँ, स्त्री की, पुत्र की, यह सब लक्ष्मी की ममता महामुश्किल से छूटती है, कहते हैं।

ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान-समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ? इतना शब्द है, हों ! यह शब्द किसलिए रखा ? तत्त्वज्ञानी धर्मात्मा को भोग-उपभोग होता है। लक्ष्मी भी होती है परन्तु उस लक्ष्मी के भोग सुख के कारण हैं और सुख है, ऐसा वह नहीं मानता। समझ में आया ? '**कामान् कामं कः सेवते सुधीः**' ऐसा है न ? इसका अर्थ बाद में किया है कि **समझदार-ज्यादती व आसक्ति...** यह भोग और लक्ष्मी और साधन... तत्त्वज्ञानी तीन काल में सेवन नहीं करता और अज्ञानी की तो यह बुद्धि तो वह लक्ष्मी मिली और साधन मिले, भोग मिले, हमें साहिबी मिली और हम सुखी हैं। ऐसे मन्दमिथ्यादृष्टि धन और भोग उपभोग में लाभ मान रहे हैं। उनकी यहाँ बात कर रहे हैं। उसको यहाँ 'सुधि' गिना है। 'सुधि' कहो, समझ में आया ?

समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ? नहीं करेगा। ऐसा कहते हैं। तत्त्वज्ञानी... इन्द्र के पद मिले या चक्रवर्ती का राज मिले या छियानवें हजार स्त्रियाँ मिले, वह तो जड़-परवस्तु और आत्मा पर है। मुझमें उसके प्रति का जरा राग हो, वह मुझे दुःखदायक है। मेरे अन्तर ज्ञानानन्द में रुचि और परिणति और एकाग्रता, वह मुझे सुखदायक है। ऐसा धर्मात्मा अन्तर में सुख मानता है। वह भोग में रहा होने पर भी भोग और राग में सुख नहीं मानता। कहो, समझ में आया ? भगवानजीभाई ! वापस ऐसा कहते हैं... यह प्रश्न आगे करेंगे। चक्रवर्ती, तीर्थंकर तो ज्ञानी... समकिती थे, वे क्यों छियानवें हजार स्त्रियों को भोगते थे ? तुम कहते हो कि तत्त्वज्ञानी भोग नहीं लेते, तत्त्वज्ञानी भोग नहीं लेते। सुन तो सही। वे भोग लेते ही नहीं थे। वह तो... सामग्री में जुड़े, ऐसा अज्ञानी को दिखता था। अन्तर देखता नहीं और ऊपर की क्रिया में समान दिखे, वह कहीं वस्तु की स्थिति नहीं है... ठीक किया है।

भोगोपभोग कमाये जाने के समय,... जब भोग और उपभोग प्राप्त करने के काल में, यह मोटरें प्राप्त करना और बँगले प्राप्त करना और धूल प्राप्त करना। धूल अर्थात् गहने, वस्त्र यह सब धूल है या नहीं ? इसे प्राप्त करने के काल में ऐसे झपट्टे मारता है... सोने की ईंट रत्न जड़े हुए। उसमें ऐसी जाति की एक लाख की आती है, एक पाँच लाख की आती है और एक दस लाख की आती है। उसमें एक-दूसरे को प्राप्त करने के लिये **भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने के कारण होता है।**

शरीर, मन और इन्द्रिय में क्लेश.. क्लेश... क्लेश... यह और लाया हो गहना ठीक सा। और यहाँ स्त्री के पास लाकर स्त्री पास नहीं करती। ऐसी छाप का क्या लाये ? तुम्हें इतनी खबर नहीं ? वह बढ़िया साड़ियाँ अभी छपी हैं अमुक जगह। इस प्रकार की मोटर मैंने कही थी। ऐसी मोटरें तो अपने घर में बहुत हैं। दूसरी प्रकार की छोटी मोटर अभी ऐसे निकली है और धीरे चलती है और ऐसा होता है, छोटा पहिया, अमुक होता है, अमुक होता है। बहुत प्रकार के हैं न अभी! यह तुम्हें कहा, इतना लेना भी तुम्हें नहीं आता। वापस अन्दर होली सुलगती है। कल्पना का क्लेश, मन में क्लेश, अमुक में क्लेश। यह बँगड़ी तुम्हें कही थी ? तुम्हें यहाँ नहीं कहा था कि ऐसी बँगड़ी, उसमें करकरिया हो और बीच में इस प्रकार से यहाँ मणिरत्न जड़े अन्दर कोने में ऊपर से सोने की ऐसी आकार हो, ऐसी तुमने कही थी और तुम यह लेकर आये। अब भाई फिर से लेने जायेंगे। मोहनभाई!

यह बाहर के दाल, भात, रोटियाँ, सब्जी। दाल-भात लेने जाये या नहीं ? दाल-भात अर्थात् पके हुए नहीं, हों! चावल लेने जाये, कुलथा के। कुलथा के लेने जाये और आ जाये कुछ न कुछ थोड़े। पतले के बहाने आ गये दूसरे। तुरन्त वह न करे कि ऐ यह तू क्या लाया ? कहते हैं कि यह शरीर, इन्द्रिय और मन में इन चीजों को लेने में, प्राप्त करने में, प्राप्त करने में, इकट्ठा करने में अकेला क्लेश ही है। सत्य बात होगी इसमें ? ...या आचार्यों को सूझ नहीं पड़ी होगी ? नहीं सूझा होगा ? हमें लगता है सुख और ये कहते हैं क्लेश।

यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में ऐड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। 'एड़ी से चोटी तक...' पैर से सिर तक, यह गेहूँ निपजे, बाजरा निपजे, यह सब खेती वालों को इतनी मेहनत करनी पड़े ? महामेहनत करनी पड़े। कहते हैं, चने, गेहूँ समझे न ? इत्यादि। **आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुख के कारण होते हैं।** भले उस समय क्लेश हुआ हो परन्तु खाने के समय ऐसे दाल, भात, रोटियाँ गरम-गरम सफेद फुल्के, सफेद गेहूँ के, उसका आटा करके सफेद लड्डू, चूरमा (खाये) उस समय सुख है या नहीं ? ऐसा अज्ञानी ने प्रश्न किया।

इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं,... सुन! जैसे-जैसे तू स्त्री का भोग, गहने का भोग, वस्त्र का भोग, लड्डूओं का भोग करे, वैसे-वैसे तुझे तृष्णा बढ़ती जायेगी। इसकी अपेक्षा ऐसे भोगना और इसकी अपेक्षा ऐसे भोगना। तेरी तृष्णा ही बढ़ेगी। तेरे आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान बिना तेरा कहीं पूरा पड़े, ऐसा नहीं है। ऐसा कहना चाहते हैं। केशवमलजी! समझे? अस्सी लाख हुए हों तो करोड़, करोड़ हुए हों तो दो करोड़। यह तृष्णा... तृष्णा और भोग। चूरमे के लड्डू खाये। परन्तु शाम को अमुक ढोकला बनाना, शाम को यह बनाना। ऐसे ढोकला छाप वाले बनाना। ऐसे-ऐसे कटोरे आते हैं, उसमें डालकर बनाना। खाते-खाते भी अच्छा लगे। चैन नहीं मिलती। उसमें कुछ खट्टा-बट्टा हो और कुछ हो गया अरे रे! आहाहा! अरे! भाई! यह तो खटास रह गयी। आया नहीं होगा। तुमने आथो कितने घण्टे का डाला? यह होली क्लेश की। उन पदार्थ के भोग-उपभोग में भी शान्ति नहीं है। अज्ञानी मूढ़ मान बैठा है। ...भाई! सत्य होगा यह?

इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति अर्थात् बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है। इसका श्लोक दिया है। **ज्यों-ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग प्राप्त होते जाते हैं,...** जैसे संकल्प में आये, वैसे पुण्य के कारण भोग और उपभोग—एक बार भोगा जाये ऐसे दाल, भात, सब्जी आदि; बारम्बार भोगे जायें ऐसे स्त्री, गहने, वस्त्र, मोटरें और बँगले। हजीरा अर्थात् मकान। ये बारम्बार भोगे जायें, ऐसी चीज़ें। **त्यों-त्यों मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैलती जाती है।** लो! इतना, बाद में इतना, इतने के बाद इतना। उसमें फिर नहीं आता, भाई! इस श्लोक का अर्थ किया है। लम्बा अर्थ किया है। मूल श्लोक टीका से बहुत लम्बा किया है। यह तो मूल टीका का अर्थ है। समझ में आया?

एक में से दूसरा। तीन लड़के हुए तो चार। चार हो तो पाँच। लड़कियाँ हो तो यह अच्छे विवाह करना और अच्छा यह करना, अमुक यह करना। उसमें कुछ समधी का मन मनुहार न हो। पैसे थे। मनुहार न हो तो काचली के लिये विवाह बिगाड़े। अरे रे! इतना आया नहीं। तुम्हें पापड़ बना रखने को नहीं कहा था? इतने पापड़ बनाना, भाई! समधी कठोर है। पापड़ भजे। यह पापड़ लाओ... पापड़ लाओ। पापड़ नहीं। इसे आया नहीं

समधी को। जाओ, कहते हैं कि मनुष्यों की तृष्णा ऐसे भोगोपभोग की दृष्टि ध्येय वहाँ पड़ा है, उससे इसकी तृष्णा में वृद्धि हुआ करती है।

मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले। उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है, कि अमुक और मिल जाये। पाँच लाख मिले तो फिर आगे दस लाख की वृद्धि करता है। **अमुक और मिल जाये।** और दस लाख मिले तो **अमुक और मिल जाये।** दो-चार मिल हो जाये और बारह महीने में दो लाख, पाँच लाख की आमदनी सीधी हो जाये तो लड़के को कमाना मिटे। वहाँ आमदनी के लिये मिल एक ले लेवे पाँच-दस लाख की, उसमें पाँच लाख पैदा हुआ ही करे। लड़का धन्धा न करे तो चला ही करे। इस प्रकार मूढ़ को एक में से दूसरी और दूसरे में से तीसरी तृष्णा बढ़ती ही जाती है। आत्मा ज्ञानानन्द है, वह तृष्णा के विकल्प रहित है। भोगोपभोग में तीन काल में सुख नहीं। ऐसी अन्तर्दृष्टि किये बिना उसकी तृष्णा की कमी नहीं होती।

यहाँ ऐसा नहीं कहते, हों कि वे भोग उपभोग छूट गये, इसलिए त्यागी-धर्मी हो गया और भोगोपभोग पड़े हैं, इसलिए वह धर्मी नहीं। ऐसी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जिसकी दृष्टि पुण्य के परिणाम पर है, धन पर है और धन से प्राप्त भोग-उपभोग सामग्री पर है, वह महातृष्णावन्त, मूढ़ और अविवेकी है। समझ में आया?

उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा विश्व के समस्त ही पदार्थों को चाहने लग जाती है। लो! विश्व। पूरी दुनिया का राज ले लूँ। समझ में आया? एक व्यक्ति कहता था नास्तिक कि मुझे यदि राज मिले न... क्या कहलाता है? सर। सर मुखत्यार यदि मैं होऊँ तो दुनिया में से पहले तो धर्म के स्थान नाबुद (नष्ट) कर दूँ। यह देखो, जगत के अभिप्राय। जवान व्यक्ति और फटा मस्तिष्क। मुझे यदि सरमुखत्यार हिन्दुस्तान का बनावे तो पहले दर्जे में जितने धर्म के स्थान, उनका नाश करा दूँ। धर्म ने तो जगत को नखोद बना डाला। क्योंकि खाने-पीने की मौज लहर करें, उसमें कहते हैं कि धर्म करो नहीं तो परलोक में नरक में जाओगे। यह तुम्हारे पूर्व के पुण्य के कारण मिलता है। अब इस होली में कितना दु:ख? छोड़ न होली! होली समझते हो? अग्नि। हमारी भाषा है काठियावाड़ी।

कहते हैं कि पूरे लोक की विश्व की प्राप्य पदार्थ की तृष्णा इसे (रहती है)। क्यों?

क्यों ? कि आत्मा का मूलस्वभाव तो लोक और अलोक को जानने का है। आत्मा का स्वभाव लोकालोक को—विश्व को, विश्व अर्थात् पूरे जगत के जितने पदार्थ हैं, उन्हें जानने का है। यह जानने का स्वभाव मेरा, ऐसा प्रतीति में नहीं लिया, श्रद्धा में नहीं लिया, इसलिए विश्व को मैं भोगूँ, ऐसी दृष्टि इसे खड़ी हो गयी। समझ में आया ? जाये कहाँ ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह तो तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को जाने... जाने... जाने... जाने... जानने का उसका स्वभाव और जानने में जो अतीन्द्रिय आनन्द आवे, वह अपना स्वभाव है। वह जानने का, जगत के ज्ञेयों को जानने का स्वभाव न मानकर, जगत के पदार्थ को भोगना—ऐसा माना, उसने उसे लोक के पूरे विश्व के पदार्थ को भोगना, ऐसी तृष्णा बढ़ गयी है। विश्व को जानने का भाव उल्टा पड़ा, इसलिए तृष्णा में गया। इसलिए उसे आत्मा क्या चीज़ है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान करने का अवसर उसे नहीं रहता।

सब ही मुझे मिल जायें। पूरी दुनिया मुझे मिले। एक-एक व्यक्ति कहता है कि, पूरा राज मुझे मिले। वस्तु तो जितनी है, उतनी है। है, उतनी है न ? एक कहे, मुझे सब मिले, दूसरा कहे मुझे सब मिले, तीसरा कहे सब (मुझे) मिले, चौथा कहे मुझे मिलो। तो फिर अब भाग कितना करना ? परन्तु एक कहता है कि मैं सबको जानता हूँ, दूसरा कहे मैं सबको जानूँ, तीसरा कहे मैं सबको जानूँ। तब तो आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, यह तो बन सके ऐसा है। इसमें कोई भाग नहीं पड़ते। मैं भी लोकालोक जगत का जाननेवाला, यह आत्मा भी जाननेवाला, दूसरा भी जाननेवाला, जाननेवाला। उसमें कहीं भाग पाड़ने नहीं जाते। परन्तु अज्ञानी ज्ञानस्वभाव आत्मा चिदानन्द मैं हूँ, इसकी श्रद्धा और ज्ञान के भरोसे बिना वह जगत की चीज़ एक प्राप्त करने जाये, दूसरा प्राप्त करने जाये, तीसरा (जाये), चीज़ तो जितनी है उतनी है। उसके कोई भाग नहीं पड़ते। इसलिए उसकी तृष्णा में अनन्त वृद्धि हो जाती है।

देखो न, यह सब व्यापार करते हैं। क्या कहलाता है वह ? खेळा... खेळा कहते हैं न कुछ ? खेला। यह क्या, एक हाथ व्यापार। एक हाथ व्यापार। पाँच करोड़ और दस करोड़ के तज का, कपूर का, लवंग का, अमुक का। करते हैं न, एक हाथ व्यापार पूरा। यह क्या तृष्णा ! कहते हैं कि सबको जानने का तेरा स्वभाव है, वह तेरी श्रद्धा में गुलांट खा गया है। यह सब ज्ञेयों के कारण तृप्ति करूँ, ज्ञेयों को भोगकर तृप्ति करूँ, पदार्थ लाकर तृप्ति

करूँ। दूसरे से अधिक पैसा करके, व्यापार करके बड़ा अधिक होकर तृप्ति करूँ (उसमें), मैं दूसरे जगत के पदार्थ को राग से अधिक मेरा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करके तृप्ति करूँ, यह बात रही नहीं। और जगत के पदार्थ जिसे मिले एक को, उससे दूसरे को अधिक मिले तो मुझे ठीक पड़े। ऐसा करके अज्ञान की तृष्णा अनन्तगुणी हो गयी है।

परन्तु यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जाये, तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायेगा। समझ में आया? **इसलिए वे सेवन करनेयोग्य हैं,** ऐसा शिष्य कहता है। महाराज! आप बात करते हो परन्तु आपको भोग भोगने की खबर नहीं है। हम भोग भलीभाँति खाकर रहें और तृप्त होंगे। ६०-६५-७० के जब होंगे, फिर हमें तृप्ति हो जायेगी तो छोड़ देंगे। फिर हम भोगकर, भोगोपभोग को सेवन कर... समझ में आया? **तृप्त हो जाये...** हमारी तृप्ति हो जायेगी। अब लक्ष्मी सब हुई। अब मुझे कुछ करना नहीं है। अब मैं तृप्त हो गया। इस कारण से भोगोपभोग सन्तोष का कारण है, ऐसा तो कहो। फिर **तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायेगा। इसलिए वे सेवन करनेयोग्य हैं।** इतना तो कहो, कुछ सेवन करनेयोग्य है।

आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेने पर अन्त में छोड़े नहीं जा सकते... इन भोग में तृष्णा बढ़ने से इस भोग का लक्ष्य तेरा छूटेगा नहीं। वहाँ वे घट-घट ऐसे बारम्बार किया कि यह हो तो ठीक, स्त्री हो तो ठीक, लक्ष्मी हो तो ठीक, इज्जत हो तो ठीक, धूल हो तो ठीक। उसमें से तेरी तृष्णा घटेगी नहीं और सन्तोष आयेगा नहीं। **उनके खूब भोग लेने पर भी मन की आसक्ति नहीं हटती,...** एक श्लोक यहाँ रखा है।

यद्यपि अग्नि,... दृष्टान्त दिया। अग्नि में घास डालो, लकड़ी डालो, पत्र डालो, चूरा सब पूरा कचरा डालो **आदि के ढ़ेर से तृप्त हो जाये। समुद्र सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाये, परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता।** उसमें तो कदाचित् अग्नि ठण्डी हो परन्तु तेरी तृष्णा अनन्त-अनन्त बढ़ती गयी। दूसरे की स्त्री ऐसी, मेरी ऐसी, दूसरे को मोटर ऐसी, मेरे ऐसे। दूसरे के मकान देखो तो कैसे ऊपर गोले रखे लाल, हरे, अमुक, अमुक ऐसे चारों ओर। और एक ७० फीट ऊँचा पिचहत्तर फीट है न तुम्हारे वांकानेर में नहीं? ऐई..! क्या है वह?

मुमुक्षु : .... टावर।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, टावर बड़ा। उस पर उसके ऊपर ऐसे बारह कोस मोरबी दिखाई दे। यह राजा का टावर। बापू! यह तो हम अधिक हैं। पैसा होवे तो हो, रंक भिखारी क्या करते थे? मर जायेगा, कहते हैं, तृष्णा में। और वह जब राज सौंपने का आया... हस्ताक्षर करना पड़ा तो आँख में से आँसू बहने लगे। सत्य बात है न? इसी प्रकार जहाँ ऐसे करता, बड़ा वीर्यवाला राजा। और ऐसे जब दस लाख का तालुका, यह स्थिति, ऐसा किया हुआ, होशियार बड़ा और जब राज का हस्ताक्षर करना पड़ा कि राज दे दो। आजीविका। आँख में से आँसू की धारा बहे।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : .... यह तो है परन्तु होवे क्या? हाय.. हाय..! अब? हमारा हुक्म कौन माने? देखो! यह छोड़ते समय मुश्किल। भोगते समय मुश्किल, प्राप्त करते समय मुश्किल, यह छोड़ते समय मुश्किल। बराबर है? केसरीमलजी! लड़कों का हिस्सा करे, वहाँ बाप बैठा होता है न। करो हिस्सा। परन्तु यह मेरी धोतियाँ लजाती है, मैं हूँ वहाँ तक। बापू! यह भले तुम्हारा बाहर पाड़ेंगे नहीं। परन्तु बंटवारा कर दो। नहीं तो बाद में विवाद होगा। परन्तु अब करना क्या? ६०-६० लाख के भाग करो एक-एक को १५-१५ लाख। इनके मकान अलग, इनके गहने तुम करते जाते हो। नहीं तो लकड़ियाँ उठेंगी। हाय.. हाय! प्राप्त करने में पाप, भोगने में पाप, अब यह बँटवारा कर देने में मैं अधिकार उठा लूँ तो उसमें भी पाप। इसमें आत्मा का सन्तोष नहीं है। भगवानजीभाई! बात सत्य होगी या नहीं? वहाँ तो लहर करते हैं सब। कितने तो करोड़पति, ढीकणा पति और अमुक पति।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ हाँ तो है न। होवे परन्तु उसमें क्या होगा? कम पड़ते हैं। कोर्ट में विवाद करे। यह तो दूसरे बहुत सुने हैं न। एक पाँच-छह करोड़वाले का लड़का। पैसे नहीं दिये तो कहे, लाओ मैं कोर्ट में जाता हूँ। वह तो दूसरे सब यह ही हैं। परन्तु कल नहीं आया था? कि वह उसके, मेरे नहीं। हिरण और सिंह जलते थे और जो व्यक्ति जिस वृक्ष पर खड़ा था, चारों ओर जंगल जलता था, स्वयं जरा २५-५० हाथ दूर अग्नि थी। इसलिए मैं तो बच गया हूँ। यह सब जलते हैं। परन्तु अभी अग्नि आकर वृक्ष और तू इकट्ठे सब (जल जाओगे)। ऐसा उसे ऐसा था। उसके लड़के ने ऐसा किया, हमारे लड़के तो सीधे

सादा जैसे हैं, सर्प जैसे हैं। सीधे सर्प जैसे अर्थात् धीरे-धीरे ऐसे कहकर चले जाये। कहो, समझ में आया?

भाई! तुझे पदार्थ की खबर नहीं। तेरे आत्मा के अतिरिक्त अनन्त पदार्थ तेरे लिये मात्र जाननेयोग्य है। कोई इष्ट-अनिष्ट है नहीं। परन्तु यहाँ भोग-उपभोग को इष्ट मानता है, यह बुद्धि मूढ़ है, ऐसा कहना चाहते हैं। भाई! भोगोपभोग तो ज्ञानी को होता है। तत्त्वज्ञानी, समकिती को। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर जब मुनि न हों, तब तक घर में छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं। सुख नहीं, सुख नहीं, सुख नहीं। सुख तो मेरे आत्मा में है। अन्तर्मुख दृष्टि के अवलोकन में सुख है। बहिर्मुख जितना मेरा झुकाव जाता है, वह सब दुःखदायक, दुःख का ही उपाय है। ऐसे हेयबुद्धि से वर्तता है और सुखबुद्धि से वर्तते नहीं। परन्तु अज्ञानी तो ऐसे लहर करता है कि अरे! अभी करते-करते तुम्हें क्या खबर पड़े? सुख भोगने के बाद हमें सन्तोष है। निश्चिन्तता से फिर भगवान का नाम लेंगे, लो। 'हमणां पछी गोविंद गाशुं।' आता है न? अभी तो माला करने दो, अभी तो यह मिल बँधायी है। फिर निश्चिन्तता से भगवान की माला करूँगा। मर जायेगा वहाँ फिर कहाँ से माला करेगा? तब लड़का कहे... बाँटने में विवाद। वह कोर्ट में चढ़े। सगे दो भाई बरामदा के बँटवारे में कोर्ट में चढ़े। मोहनभाई! सगे दो भाईयों को होता होगा या नहीं?

मुमुक्षु : घर-घर में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घर-घर में है। वह पदार्थ अलग, तू अलग। उसके विचार कैसे आवे, तेरे विचार कैसे? दोनों स्वतन्त्र चीज़ है। तू कहे कि मेरे विचार प्रमाण उसके विचार आवे। तेरी बुद्धि में भ्रम पड़ा है। कदाचित् तेरे विचार प्रमाण उसके आये परन्तु उसके कारण से आये हैं, तेरे कारण से नहीं। इसलिए तू ऐसा मान बैठे कि मेरे कारण इसका ऐसा आया, इसलिए इतना तो अपने को सन्तोष है न? कि नहीं।

वह पुरुष... अग्नि में घास, लकड़ी से कदाचित् तृप्त हो जाये, अग्नि बुझ जाये बहुत भार पड़ जाये तो ऐसा कहते हैं। अग्नि में बहुत भार पड़े। **समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाये...** कदाचित् ज्वार का काल हो और ज्वार दिखायी दे परन्तु जिस मनुष्य को आत्मा का ज्ञान नहीं, आत्मा पूर्णानन्द प्रभु है, उसके स्वभाव की दृष्टि, श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता और पुण्य और लक्ष्मी के भोगोपभोग साधन में सुख मान बैठा है, उसकी तृष्णा

कभी तृप्त नहीं होती। कहो, बात बराबर होगी यह ? भीखाभाई! पैसेवाले को चैन नहीं आता।

अहो! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबरदस्ती है। अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है... कर्मों का अर्थ (यह कि) तूने भाव किये और उनका बन्धन हुआ और उसका जो फल मिला, उसमें तेरा लक्ष्य गया, इसलिए कर्म की जबरदस्ती, ऐसा कहने में आता है। बाकी तो तेरे भाव में ही मूढ़ता पड़ी है। अब जरा विषय की व्याख्या करते हैं। **अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है...** पाँच इन्द्रिय के लक्ष्मी से प्राप्त भोग, उनकी ओर का तेरा राग, वह तो जहर है, जहर है। विषय अर्थात् जहर। **कि जिसे जबरदस्ती खाकर यह मनुष्य, भव-भव में नहीं चेत पाता है।** कैसा जहर है ? यह जहर तो एक बार देह को छोड़े। कालकूट जहर। विषय का जहर—पाँच इन्द्रिय के विषय में हमें मजा है, हमें लहर है। अरे! इज्जत कीर्ति सुने, बापू! यह यश न मिले तो जीवन क्या ? और यश के लिये एक बार जीवन खोवें तो भी दिक्कत नहीं। ऐसा आता है, हों! वे भाट लड़ावे (बखान करे) भारी। जीवन यश बिना का काम का नहीं। वहाँ वह चढ़ जाये। मर जायेगा परन्तु तेरा यश वहाँ कहाँ गिरबी रखें जायें ऐसे हैं ? मर जायेगा। वहाँ गिरवी रखे जायें ऐसा है ? घरेणे समझते हो ? क्या कहते हैं ? गिरवी। गिरवी रखे कि मैंने बहुत कीर्ति की थी, अब मुझे जाना है परलोक में। देह छूटने के समय गिरवी रखो इज्जत को, बापू! रखो। चला जा तृष्णा करके दूसरे भव में। आत्मा कहाँ वहाँ नाश हो ऐसा है ?

यहाँ तो सच्चिदानन्द प्रभु की श्रद्धा-ज्ञान करता नहीं और पैसा, लक्ष्मी, और भोग-उपभोग के भरोसे पड़ा है। उसे कहते हैं कि तेरे विषय तो गजब का विष है। **कि जिसे जबरदस्ती खाकर...** जबरदस्ती अर्थात् ? उत्साह से खाता है। वह जहर तो जरा अण... इसे तो उत्साह से खाता है। विषय लेना, यह तो हमारा काम है, बराबर। और राज के कुँवर हों और विषय फटे हुए हों और सालमपाक खाते हों और मूसलीपाक खाते हों और उसमें चढ़े हों, उसमें लहसुन का मसाला और शरीर फटे। भोग लेने जाये। छोटी उम्र की लड़की ऐसे चली जाती हो तो डालो इसे मोटर में। लाओ... अरे! मर जायेगा इसमें। परन्तु लक्ष्मी के कारण मिली हुई चीज़ें आँखें अज्ञान की अन्धेरे में आयी। समझ में आया ? वह स्त्री

चाहती न हो, उसके ऊपर हाथ डालने जाये तो वह थप्पड़ मारे। कौन है हरामी ? हाय-हाय। ऐ... ! तू बड़ा पाप करोड़, दस करोड़ का आसामी। मैं तुझे इच्छने गया वहाँ तूने मारी थप्पड़, तूने मारी एक लकड़ी। कहना किसे मुझे कि इसने मुझे लकड़ी मारी। समझ में आया ? या इसने मुझे थप्पड़ मार दी और धक्का मारा। अरे ! हमारी इज्जत। हमें तू ऐसा-ऐसा कहे, मैंने तुझे चाहा, उसमें यह ? होली वहाँ यह है। तेरी तृष्णा का अन्त आवे ऐसा नहीं है। देखो, यहाँ कहते हैं। कैसा जहर ? उत्साह से खाये।

यह मनुष्य, भव-भव में नहीं चेत पाता है। कहीं भवभ्रमण में इसे जानने का मिलता नहीं। उसी और उसी में फँसा। मूढ़ होकर भटक रहा है। यहाँ तो कहते हैं कि तेरी बुद्धि में ऐसा आवे कि दुनिया को लाभ दे दूँ पुण्य करके और दूसरे को सहायता करूँ तो तेरी इच्छा पुण्य की है और पुण्य की इच्छावाले को भोग की ही इच्छा है। जिसे शुभभाव की इच्छा है, उसे शुभभाव से प्राप्त भोगोपभोग की ही इच्छा है। भोग-उपभोग से निवृत्त नहीं है। भले बाह्य में त्यागी होकर बैठा हो। समझ में आया ? परन्तु मैं पर की करुणा से काम करूँ, अनुकम्पा से काम करूँ, अमुक से... यह भाव मुझे लाभदायक है। तो इसके फल के भोग को, उपभोग को लाभदायक माने बिना रहता नहीं। इसलिए ... छोड़। धन भी लाभदायक नहीं, इसके कारण से प्राप्त भोगोपभोग भी कारण नहीं। धन का कारण जो बन्ध लाभदायक नहीं और बन्ध का कारण तेरा शुभभाव भी लाभदायक नहीं। समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं, अहो ! उसे मनुष्य खाई में भव-भव में कहीं इसे पर के लक्ष्य से छूटकर निर्भोगस्वरूप राग और संयोग बिना की आत्मा की चीज़, उसे चेतने का-जानने का अवकाश नहीं मिलता। उसी और उसी में उलझा करता है। **इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्त में क्लेश...** देखो ! शुरुआत में क्लेश, मध्य में क्लेश, अन्त में क्लेश **एवं आसक्ति के कारणभूत इन भोगोपभोगों को बुद्धिमान इन्द्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा ?** इन्द्रियरूपी नलियाँ। यह नलियाँ हैं न सब ? इनके द्वारा पानी लाते हैं न ? यह इन्द्रियों के आँख, कान, इन्द्रिय, भोग विषय, इसके द्वारा तत्त्वज्ञानी भोग लेने की वृत्ति नहीं रखते। उनमें उनकी सुखबुद्धि नहीं होती। **कोई भी नहीं।** सच्चा तत्त्वज्ञानी परपदार्थ को भोगबुद्धि से और परपदार्थ के कारण धन को और धन के कारण पुण्य को सच्चा तत्त्वज्ञानी तीन काल में दृष्टि में इच्छता नहीं है।

यहाँ पर शिष्य शंका करता है... भाई! अब आया। **कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो, यह बात सुनने में नहीं आती है।** आपने इतनी अधिक बात की। भोग-उपभोग तत्त्वज्ञानी नहीं सेवन करता। हमने तो सुना है कि तीर्थंकर तत्त्वज्ञानी थे और छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं। बलदेव महाज्ञानी उस भव में मोक्ष जानेवाले हों, समकिती हों और बहुत संसार और सब राज थे। **बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है, यही प्रसिद्ध है।** शास्त्र में बात आती है। आती है न? इन्होंने कहा, तत्त्वज्ञानी हैं, वे भोग को भोगते नहीं। तब शिष्य ने प्रश्न किया कि हमने तो सुना है, सम्यग्ज्ञान होता है, आत्मा का अनुभव होता है, आत्मा का भान होता है, तथापि स्त्री का विषयभोग और राज भोगते हैं, ऐसा हमने नजर से देखा है और शास्त्र में कहा है, लो! शिष्य है न अन्दर का जाननेवाला? घर का जाननेवाला है या नहीं? उसने शास्त्र पढ़े हैं। हाँ, तुम कहते हो कि तत्त्वज्ञानी धर्मी जीव यह स्त्री, पुत्र, पैसा, धन, भोग, उपभोग भोगता नहीं। तो हमने तो सुना है कि तत्त्वज्ञानी भी **बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों...** और। तीन ज्ञान के धनी तीर्थंकर, तीन ज्ञान के धनी चक्रवर्ती वे संसार में तीर्थंकररूप से आये हों। इत्यादि कोई बलदेव, वासुदेव, दूसरे जीव भी समकिती बहुत होते हैं। अरे! पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक। पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक, उन्हें भी स्त्री और बड़े राजपाट होते हैं और अरबों रुपये घर में होते हैं। तुम कहते हो वे भोग-उपभोग को नहीं भोगते। हमें यह बात जँचती नहीं।

तब भोगों को कौन बुद्धिमान तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा? यह उपदेश कैसे मान्य किया जाये? यह तुम्हारा उपदेश हम कैसे मानें? बराबर है? समझ में आया? मोहनभाई! क्या कहा, प्रश्न समझ में आया? कि तुम कहते हो कि तत्त्वज्ञानी धर्मात्मा, आत्मा अखण्डानन्द है, मुझमें सुख है, मुझमें शान्ति है, इन पुण्य-पाप के भाव में शान्ति नहीं है। इस पुण्य के कारण प्राप्त सामग्री चक्रवर्ती के राज कि जिसे अभी है नहीं, ऐसे राज मिले तो उसमें सुख नहीं है। तो हम तो सुनते हैं कि ज्ञानी ने भी भोग तो भोगे हैं। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी छह खण्ड में रहे हैं। छियानवें हजार पद्मिनी जैसी स्त्रियाँ थीं। यहाँ तो फूहड़ जैसी अभी सरीखी नहीं। और उस समय तो महाधर्मात्मा को छियानवें-छियानवें हजार। केसरमलजी! पद्मिनी जैसी ऐसी स्त्रियाँ। ऐसी एक को देखे और दूसरी भूले। चक्रवर्ती को तो और एक (मुख्य) स्त्री की हजार देव सेवा करे। तीर्थंकर चक्रवर्ती शान्तिनाथ,

कुन्थुनाथ और अरनाथ। एक स्त्री जिसे हो, उसकी हजार देव सेवा करें। ऐसी दूसरी छियानवें हजार में एक कम और दूसरी भी बड़ी पद्मिनी जैसी स्त्रियाँ।

तुम कहते हो कि तत्त्वज्ञानी भोग नहीं भोगते। तो तुम्हारा उपदेश कैसे मान्य किया जाये? बराबर है या नहीं? **इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाये?** जो भोग नहीं भोगे तो तत्त्वज्ञानी और भोग भोगे तो अज्ञानी। यह आप कहना चाहते हो, इस बात का विश्वास हमें नहीं आता। बातें करे ज्ञान की आत्मा आनन्द है, ज्ञानी है, समकिती हैं, श्रावक हम हैं, पाँचवें गुणस्थानवाले हैं। कमाता है, भोग लेता है, उपभोग लेता है। अच्छी चीज़ न हुई हो तो कहता है कि ऐसा करो। रोटी बिगड़ गयी हो, अच्छी पूड़ी बनाओ, पुडला बनाओ, अमुक बनाओ। यह क्या? हमने शास्त्र में सुना है न। भोगीभाई! तू बाबा होकर बैठ जाये तो ही ऐसा कि त्याग हो, ऐसा तुम कहना चाहते हो? तो ऐसा होवे तो तुम्हारी बात जँचती नहीं। क्योंकि तत्त्वज्ञानी तो यहाँ सब भोगते हैं।

यह उपदेश कैसे मान्य किया जाये? प्रभु! गुरु को शिष्य पूछता है। **आचार्य जवाब देते हैं कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ 'कामं अत्यर्थ०' आसक्ति के साथ रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है।** इसमें टीका में यह है, भाई! रुचिपूर्वक भोग का हमने यहाँ विशेषण लगाया था। वह सामग्री तो ज्ञानी को, अभी तो अज्ञानी को कुछ नहीं। उस समय ज्ञानी को उस सामग्री का पार नहीं था। इन्द्र जिसकी सेवा करे, देव जिसकी सहायता में आवे। समवसरण रचे, तब देव ऊपर से उतरे। परन्तु वह रुचि में नहीं, यह नहीं... यह नहीं... यह श्मशान की लकड़ियाँ पॉलिस करके सुलगावे तो मुर्दे को चैन आवे, ऐसा है नहीं। मेरा आत्मा आनन्दपूर है। आनन्द का पूर है। उस पूर में मुझे वहन करना चाहिए। अन्तर में आना चाहिए परन्तु मेरी जरा कमजोरी है, इसलिए आसक्ति का विषय का भोग का राग होता है, परन्तु राग में भी सुख नहीं और पर में भी सुख है नहीं। ऐसी रुचि ज्ञानी को नहीं होती। यहाँ रुचि की ही बात है। समझ में आया? वे (कहे), धन कमाऊँगा तो पुण्य करूँगा और फिर दान-पूजा और भक्ति करूँगा तथा मन्दिर बनाऊँगा। वहाँ उसकी पापबुद्धि है। पुण्य के परिणाम बन्ध के कारण, उसमें से लक्ष्मी मिले और तू यह करूँगा, इस कर्ताबुद्धि से उसमें धर्म-बर्म है नहीं।

यहाँ कहते हैं, **हमने उपर्युक्त कथन के साथ 'कामं अत्यर्थ०' आसक्ति के साथ**

रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। धर्मी जीव विषयों में-सामग्री में बैठा दिखाई देता है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा का भान है कि मैं आत्मा ज्ञानानन्द हूँ, तथापि पूर्व के पुण्य के कारण प्राप्त सामग्री में उसे रुचि नहीं होती। अरे! भिखारी त्यागी मुनि साधु हो। परन्तु जिसे अन्दर में एक राग का कण आता है महाव्रत का, वह कण अच्छा है, ऐसा माननेवाला भोग को ही चाहता है। समझ में आया? ओहोहो! वाडीभाई! मुनि नग्न दिगम्बर हुआ। हजारों रानियों का त्याग, राजपाट छोड़कर मुनि नग्न दिगम्बर (हुआ)। अन्तर में पर की दया पालने का भाव आया शुभराग, वह मुझे हितकर है, लाभदायक है, ऐसा माननेवाला भोग-उपभोग को ही चाह रहा है। ओहोहो! समझ में आया? भले त्यागी दिखाई दे, (किन्तु) बड़ा भोगी है। और तत्त्वज्ञानी (हो), एक भी त्याग बाहर से दिखता नहीं। अनेक स्त्रियाँ, अनेक राजपाट, खाने के हीरा के थाल, मणिरत्न के थाल, हीरा की कटोरियाँ, बादाम के मैसुर अन्दर पड़े हों और माखणिया... क्या कहलाते हैं तुम्हारे वे? जामुन। मक्खन के कहलाते हैं न ऐसे? मक्खन नहीं, हों, मावा-मावा। भूल जाते हैं। मावा के जामुन। मावा के जामुन। ऐसे पड़े हों और घी में तले हुए २५-५० ठीक से बनाये हों। वह खाते भी हैं और कहते हैं कि भोग-उपभोग में भोगे तो वह मूढ़ है। तो महाराज! तुम्हारी यह बात हमें बैठती नहीं।

भाई! सुन तो सही। हमने तो कहा था कि आसक्ति में रुचि थी। समझ में आया? ज्ञानी को जरा आसक्ति का अंश आ जाता है परन्तु उसमें रुचि नहीं है। रुचि नहीं, रुचि नहीं। समझ में आया? किसी समय मुँह में मल आ जाता है। आंतड़ियों में अन्तर पड़ जाता है तो मल ऐसे न निकलकर, नीचे न निकलकर मुँह में आ जाये। उल्टी में। उल्टी में, हों! गाँठ आयी एक व्यक्ति को इतनी बड़ी मल की। क्योंकि अंतड़ियाँ एकदम घूमी और उसे उल्टी आयी, ऐसी आयी कि ऐसे नीचे से जो मल निकलना चाहिए, वह ऐसे आया। बड़ा। निकलते-निकलते देर लगी यहाँ से। स्वाद के लिये रखा होगा? बना हुआ है भाई! बनी हुई बात है, कहो, समझ में आया? यह आँतड़ियाँ कौन जाने इतना मल का पिण्ड उस अन्दर में से यहाँ आ गया। अब वह भाई पीड़ा और उसमें से निकाला। दो मिनिट या आधे मिनिट रहे। कोई देखे कि इसे मल का स्वाद आता होगा। ऐसा होगा? सुन तो सही। यह उल्टी रग से मल चढ़कर यहाँ निकला, उसका स्वाद नहीं लेता।

इसी प्रकार धर्मी जीव मेरा आनन्द तो अन्तर स्वरूप में ज्ञान और शुद्धता में आनन्द है। जरा यह राग आया, वह तो मल का स्वाद; मेरा स्वाद नहीं। मेरा स्वरूप नहीं। हेयबुद्धि वर्तेती है और बाहर के भोग के प्रति वह तो मुझसे पृथक् है। मुझे किसी प्रकार से आदरणीय नहीं है।

ऐसे ज्ञानी **तात्पर्य यह है कि चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए भी...** धर्मात्मा, धर्मीजीव आत्मज्ञान का भान होने पर भी, आत्मा में आनन्द है—ऐसा मानने पर भी, चारित्रमोह अर्थात् स्वरूप की अस्थिरता के कारण में एक चारित्रमोह नाम का कर्म निमित्त है, उसकी ओर का जुड़ान अभी छूटा नहीं है। इसलिए ज्ञानी को भी जरा तृष्णा, राग, विषयभोग की वासना आती है। वह उसे छोड़ने को **असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगों को त्याज्य-छोड़नेयोग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं।** उसे छोड़नेयोग्य। वह गाँठ ऐसे निकल जाये तो ठीक, निकल जाये तो ठीक, ऐसा मानता है या रखना ठीक है? कहो, समझ में आया? इसी प्रकार धर्मात्मा को, अरे... गले में ऐसा रक्त आया लो न, कहीं से। ... नहीं आता? अन्दर पड़ा और गले में से रक्त। वह अच्छा लगता है? ऐसे देखे रक्त, थू—ऐसा कर डालता है। भाई! रख न थोड़ी देर। बापू! था तो सही अन्दर। यह नहीं चबा जाता? चबा जाये और रक्त निकले। अब एकदम साफ हो नहीं और वह इकट्ठा हो। परन्तु वह रक्त पीने का कामी है? रक्त खाने का कामी है? फिर जरा एकदम खाना बन्द कर दे और निकलना हुआ रक्त साफ करने में देर लगे। रुक जाये तब खाये। वह रक्त जरा रखा। मुँह में जरा रहा। एक, दो-पाँच सेकेण्ड तो रहे या नहीं दल? प्रसन्न है रखने को?

इसी प्रकार धर्मी जीव आत्मा आनन्द मेरा स्वरूप मेरा आनन्द। वह स्व स्त्री में भी जो राग होकर लक्ष्य जाता है, वह दुःखदायक है। छियानवें हजार। महाराज! दुःखदायक कहे और छोड़े नहीं। वे मजाक करते हैं। समझ में आया? सुन तो सही अब।

श्रीमद् के लिये ऐसा कहते थे न लोग! लो, यह कहे, बड़ी बातें करते हैं। हम त्यागी सब ब्रह्मचारी। उनके घर में लड़के हों, उनके घर में स्त्री, बड़ा जवाहरात व्यापार और कहे, मैं धर्मी और हम सबको ठहरावे बिना समझ के। समझण बिना के ऐसे रखो। कहो, समझ में आया? भाई! सुन तो सही। धर्मी की दृष्टि कहाँ पड़ी है? उसे राग का आदर नहीं है,

उसे भोग का आदर नहीं है, तथापि कमजोरी के कारण जरा हो जाता है, उसे छोड़ने का ही इच्छुक है, उसे आदरने का इच्छुक है नहीं। कहो, समझ में आया?

तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगों को त्याज्य-छोड़नेयोग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मन्द पड़ गया है,... आत्मा के ज्ञान और आनन्द की दृष्टिपूर्वक स्वरूप में एकाग्र होते-होते राग मन्द पड़ गया, फिर भोग छोड़ देता है। फिर तो सेवन करने की वृत्ति भी नहीं आती। **मन्द पड़ गया है, वह ज्ञान-वैराग्य की भावना से...** अपनी समझ अन्तर की और वैराग्य भावना। रागरहित हूँ, निमित्तरहित हूँ, मेरा स्वभाव शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। ऐसा भान होकर फिर क्रम-क्रम से जैसे एकाग्र होता जाये, वैसे राग घटता जाये, भोग का लक्ष्य छोड़कर भोग छूट जाये। और समझे बिना के भोग छोड़कर बैठे, वे तो समुचा बड़े तृष्णा के दूसरे में जुड़ जाते हैं।

इन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों को वश में कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिबद्ध-तैयार हो जाता है... बहुत अच्छा टीका प्रमाण किया है। समझ में आया? थोड़ा-थोड़ा अर्थ होगा इसमें। धर्मी जीव का प्रसंग जब अपने को भान हुआ, तथापि अभी स्त्री, कुटुम्ब, परिवार के प्रति का राग छूटता नहीं। वापस छूटता नहीं, उसमें कर्म कारण नहीं, हों! कि कर्म छूटे तो वह छूटे, ऐसा नहीं। भारी विपरीतता करते हैं। यह तो अन्तर में एकाग्रता की कचास है, इससे राग का जरा भाग आता है और इससे भोग-उपभोग पर उसकी वृत्ति जाती है। परन्तु जब स्वरूप में एकाग्र होने से राग मन्द पड़ जाता है, इसलिए भोग के ऊपर का लक्ष्य छूट जाता है। वह स्त्री, परिवार को छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि होकर आत्मा का ध्यान करके मोक्ष को साधने के लिये तैयार हो जाता है। देखा!

अपने कार्य करने के लिये.... अर्थात् क्या? शीघ्र अपना कार्य। वह राग है, वह अपना कार्य नहीं। सामग्री प्राप्त करना, वह अपना कार्य नहीं। भोग-उपभोग, वह अपना कार्य नहीं। वह तो आ पड़ी उपाधि राग भाग है। वह क्रिया तो बाहर की पर के कारण होती है। अन्तर में अपना कार्य रागरहित होकर स्थिर होने का कार्य शीघ्र करता है। **जैसा कि कहा गया है 'इदं फलमियं क्रिया०'...** आदि। एक श्लोक है अन्दर।

ज्ञानी को ऐसा भान वर्तता है, यह कहना है, भाई! धर्मी जीव को... एक श्लोक है

अन्दर। सब लम्बा लेख बाद में अन्तिम है। **यह फल है...** ज्ञानी को अन्तर में भान होता है कि इस राग का फल दु:खदायक है और यह स्वभाव का फल शान्तिदायक है। आत्मा के ज्ञानानन्द में रहने का फल शान्ति है और पुण्य-पाप के भाव में रहना, वह दु:खदायक है। ऐसा ज्ञानी के भान में फल का भान वर्तता है। अज्ञानी को वर्तता नहीं। वह तो राग करके सुख और आनन्द मानता है। और राग से तो पुण्य बँधेगा और पुण्य से तो फिर अच्छा स्वर्ग मिलेगा, धूल मिलेगी। अब धूल मिली, सुने तो सही। तेरे राग और राग के फल का भी तुझे भान नहीं। ज्ञानी को राग के फल आदि का भान है, धर्म के फल का (भान है), दोनों का लेना।

यह क्रिया है,... भान है कि यह क्रिया जड़ की होती है। शरीर, वाणी, मन और भोगोपभोग की खाने-पीने की क्रिया मेरी नहीं है, वह तो जड़ की क्रिया है। मुझे राग होता है, वह विकारी क्रिया है। स्वभाव की एकाग्रता, वह निर्विकारी क्रिया है। इन तीनों क्रिया का ज्ञानी को भान है। समझ में आया? अज्ञानी ... हिलावे और भोग ले तो मैं लेता हूँ। यह शरीर मैंने ऐसे किया, राग किया तो मेरा स्वभाव। इन सबका खिंचड़ा बनाता है। ज्ञानी को क्रिया का भान है। देह की क्रिया होती है, वह पर का भाव है; यह राग उपाधिभाव है, इसका फल दु:खदायक है। आत्मा आनन्दकन्द है, उसकी एकाग्रता, वह शान्ति है, उसका परम्परा से भी फल सुखरूप है।

यह करण है... करण अर्थात् साधन। देखो! ज्ञानी को भान है करण का। क्या करण का? कि जड़ के साधन मेरे अधिकार की बात नहीं। मैंने राग के साधन द्वारा पर को प्राप्त किया वह मेरे अधिकार की बात नहीं।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिए? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूछा गया है।

आचार्य कहते हैं –

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्।।२२।।

मन को कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।
आतमज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय।।२२।।

अर्थ – मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर ध्वस्त–नष्ट कर दी है, स्वच्छन्द वृत्ति जिसने, ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे।

विशदार्थ – जिसने इन्द्रिय और मन को रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मन की उच्छृंखल एवं स्वैराचाररूप प्रवृत्ति को ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के श्लोक में) बता आये हैं, आत्मा को आत्मा से ही यानि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्यावे, कारण कि स्वयं आत्मा में ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञप्ति में और कोई करणान्तर नहीं होते। जैसा की तत्त्वानुशासन में कहा है – 'स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्।'

'वह आत्मा स्वपर–प्रतिभासस्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयं को जानता है, और पर को भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है। इसलिए चिन्ता को छोड़कर स्वसंवित्ति–स्वसंवेदन के द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। इसके लिए उचित है कि मन को एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियों की अपने–अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे।' यहाँ पर संस्कृत टीकाकार पण्डित आशाधरजी ने 'एकाग्र' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक कहिए विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय, वही है अग्र कहिए प्रधानता से आलम्बनभूत विषय जिसका, ऐसे मन को कहेंगे 'एकाग्र'। अथवा एक कहिए पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तमान द्रव्य–आत्मा वही है, अग्र–आत्मग्राह्य जिसका, ऐसे मन को एकाग्र कहेंगे।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान के सहारे से भावनायुक्त

हुए मन के द्वारा इन्द्रियों को रोककर स्वात्मा की भावना कर उसी में एकाग्रता को प्राप्त कर चिन्ता को छोड़कर स्वसंवेदन के ही द्वारा आत्मा का अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है – 'गहियं तं सुअणाणा।'

अर्थ – 'उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। जो श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं लेता, वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है।' इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामी के समाधिशतक में कहा है – 'प्राच्याव्य विषयेम्योऽहं।'

'मैं इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ।'

यहाँ आचार्य कहते हैं :—

यहाँ शिष्य कहता है कि — यदि आत्मा इस प्रकार का है तो उसकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिए? यह प्रश्न आत्म-उपासना के उपाय का है — यह स्पष्ट है।

आचार्य कहते हैं :—

कर मन की एकाग्रता, इन्द्रिय-विषय मिटाय।
रुके वृत्ति स्वच्छन्दता, निज में निज को ध्याय॥ २२॥

अन्वयार्थ :- **(चेतसः)** (भाव) मन की **(एकाग्रत्वेन)** एकाग्रता से **(करणग्रामं)** इन्द्रियों के समूह को **(संयम्य)** वश करके, **(आत्मवान्)** आत्मवान् पुरुष को **(आत्मनि)** अपने में (आत्मा में) **(स्थितं)** स्थित **(आत्मानं)** आत्मा को, **(आत्मना एव)** आत्मा द्वारा ही **(ध्यायेत्)** ध्याना चाहिए।

टीका :- ध्याना चाहिए-भाना चाहिए। किसको? आत्मवान (पुरुष को), अर्थात् जिसने इन्द्रियों और मन को रोक लिया है (संयम में रखा है।) अथवा जिसने इन्द्रियों और मन की स्वेच्छाचाररूप (स्वच्छन्दरूप) प्रवृत्ति का नाश कर दिया है — ऐसे आत्मा को। किसको (ध्याना चाहिए)? आत्मा को, अर्थात् जिसका स्वभाव पूर्व में (श्लोक २१ में) बताया है, वैसे पुरुष को (आत्मा को); किससे द्वारा? आत्मा द्वारा ही, अर्थात् स्वसंवेदनरूप

अपने से ही (प्रत्यक्ष ज्ञान से ही) (ध्याना चाहिए), क्योंकि उस ज्ञप्ति में अन्य करण (साधन) का अभाव है। (स्वयं आत्मा ही ज्ञप्ति का साधन है।)

'तत्त्वानुशासन' श्लोक १६२ में कहा है कि — '**स्वपरज्ञप्ति....**'

'वह आत्मा, स्व-पर ज्ञप्तिरूप होने से (अर्थात्, वह स्वयं स्व को तथा पर को भी जानता होने से) उसको (उससे भिन्न) अन्य कारण का (साधन का) अभाव है; इसलिए चिन्ता को छोड़कर, स्वयंसवित्ति (अर्थात्, स्वसंवेदन) द्वारा ही उसको जानना चाहिए।'

(शिष्य ने) पूछा — कहाँ रहे हुए (आत्मा को) ? आत्मा में स्थित (रहे हुए को), क्योंकि वस्तुतः (वास्तविक रीति से) सर्व पदार्थों को स्वरूपमात्र ही आधार है, (अर्थात्, सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में ही स्थित होते हैं)। क्या करके ? रूपादि (विषयों) से रोककर (संयमित करके), अर्थात् वापस मोड़कर। किसको ? इन्द्रियों के समूह को, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियगण को। किस उपाय से ? एकाग्रपने से, अर्थात् एक / विवक्षित आत्मा, वह द्रव्य व पर्याय-वह अग्र अर्थात् प्रधानरूप से अवलम्बनभूत विषय है जिसका-वह एकाग्र;

एकाग्र का दूसरा अर्थ :—

एक, अर्थात् पूर्वापर पर्यायों में अनुस्यूतरूप से (अविछिन्नरूप से) प्रवर्तमान अग्र, अर्थात् आत्मा जिसका-वह एकाग्र-उसके भाव से, अर्थात् एकाग्रता से।

किसके ? चित्त के-(भाव) मन के। उसका यह अर्थ है-जहाँ कहीं अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान की सहायता से, मन के अवलम्बन द्वारा इन्द्रियों को रोककर तथा अपने आत्मा को भाकर, उसमें एकाग्रता प्राप्त करके, चिन्ता छोड़कर, स्वसंवेदन द्वारा ही आत्मा का अनुभव करना।

'अनागार धर्मामृत' (तृतीय अध्याय) में कहा है कि — '**गहियं तं.....**'

'उसको (आत्मा को), श्रुतज्ञान द्वारा ग्रहण करके (जानकर के), संवेदन (स्वसंवेदन) द्वारा अनुभव करना। जो श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं लेता, वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है।'

तथा समाधिशतक श्लोक ३२ में कहा है कि — '**प्रच्याव्य.....**'

'मैं, इन्द्रिय के विषयों से अपने को हटाकर, अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप तथा परमानन्दमयी आत्मा को आत्मा द्वारा प्राप्त हुआ हूँ॥२२॥'

भावार्थ :- *प्रथम श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को जानना, पश्चात् आत्मा में एकाग्र होने से इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्ति स्वयं रुक जायेगी, अर्थात् उनकी स्वच्छन्दप्रवृत्ति का नाश होगा और उस एकाग्रता से चिन्ता का निरोध होकर, ध्यानावस्था में स्वसंवेदन द्वारा आत्मा का अनुभव होगा।*

'जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियों और छठें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर, निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ, क्योंकि वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है, वह एक काल में एक ज्ञेय को ही जान सकता है। अब, वही ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्ता, तब अन्य को जानना सहज ही बन्द हुआ। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार होने पर भी, स्वरूपध्यानी को उसका कुछ पता नहीं। इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूप सन्मुख हुआ। तथा नयादिक के विचार मिटने से श्रुतज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ.....इसलिए जो ज्ञान, इन्द्रियों और मन द्वारा प्रवर्तता था, वही ज्ञान, अब निज अनुभव में प्रवर्तता है, तथापि उस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहते हैं।'

(पण्डित टोडरमलजी-रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

आत्मा, स्व-पर प्रतिभासस्वरूप है, अर्थात् स्व-पर प्रकाशक है। वह स्वयं अपने को जानते हुए, पर जानने में आ जाते हैं; इसलिए उसको जानने के लिए अन्य कारणों (साधनों) की आवश्यकता नहीं रहती।

स्व-संवेदन में ज्ञप्तिक्रिया की निष्पत्ति के लिए अन्य कोई करण अथवा साधकतम हेतु नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयं स्व-पर ज्ञप्तिरूप है; इसलिए कारणान्तर की (अन्य कारण की) चिन्ता छोड़कर, स्व-ज्ञप्ति द्वारा ही आत्मा को जानना चाहिए।

भाद्र कृष्ण १३, मंगलवार ०२-१०-१९५६, गाथा - २२-२३, प्रवचन - ३

२२वीं गाथा चलती है। उसमें ऐसा कहा। शिष्य ने ऐसा पूछा था कि किस उपाय से आत्मा की सेवा करना? आत्मा की उपासना किस प्रकार करना?

उसके उत्तर में कहा कि आत्मा इन्द्रिय और मन से भिन्न है और अपने ज्ञानदर्शन आदि स्वरूप से स्थित है। जो पदार्थ है, वह अपने स्वभाव में रहा हुआ है। उस पदार्थ की ओर दृष्टि करके इन्द्रिय और मन से हटकर आत्मा का स्वरूप स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य जो है, उसका अन्तर वेदन करना, ज्ञान द्वारा ज्ञान को जानना और ज्ञान द्वारा ज्ञान को वेदना, यह आत्मा के हित का उपाय है। कहो, समझ में आया?

अब उसे कहते हैं, आत्मा का अनुभव स्वसंवेदन द्वारा करे... यह कल आ गया है कि आत्मा स्व-परप्रकाशक है। इसलिए उसे स्वप्रकाश के लिये पर के राग के, मन के, वाणी के या संयोग की आवश्यकता नहीं है। ऐसा आत्मा परप्रकाशक भी अपने स्वसामर्थ्य से है। वह कहीं पर के कारण पर को जानना, ऐसा सामर्थ्य नहीं है। अपने को जानने में वह स्वसामर्थ्य सत्ता है और पर का जानना, वह भी अपना स्वसामर्थ्यस्वभाव। इसलिए स्व-परप्रकाशक उसका स्वभाव है। इसलिए स्व को जानने के लिये निमित्त की आवश्यकता नहीं, राग की आवश्यकता नहीं और पर को जानने के लिये पर के निमित्त और सहायता की आवश्यकता नहीं। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक स्वपर प्रतिभासरूप है। अर्थात् वह स्वभाव उसमें है। उसे मन, इन्द्रिय और राग से पृथक् (और स्व में) एकाग्र करके, मन-इन्द्रिय और राग से पृथक् करके ज्ञान अन्तर स्वभाव में एकाग्र होकर स्व को-पर को प्रकाशित करे, ऐसे सामर्थ्य में वेदन करना, वह आत्मा को मोक्ष का उपाय है। वह आत्मा को शान्ति का उपाय है।

तब अब जरा कहते हैं कि परन्तु उसमें श्रुतज्ञान के अवलम्बन की आवश्यकता है। कहते हैं कि वह आत्मा कैसा है? यह अपनी कल्पना से मानकर, मानकर—माँडकर और मानकर कोई एकाग्र होना चाहे तो उसे एकाग्रता नहीं हो सकती। इसलिए पहले श्रुत सर्वज्ञ

भगवान वाणी में, उपदेश में, आगम में क्या कहते हैं, और गुरुगम से वह आत्मा कैसा है, यह पहले उसे जानना चाहिए। उसे विरुद्ध जानने से अनेक प्रकार की कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को जाने और वे आत्मा का स्वरूप (कहे) वैसा आत्मा का स्वरूप है नहीं। एक समय में आत्मा कैसा और क्यों है, उसे श्रुतज्ञान द्वारा पहले जानना चाहिए। वह जाने बिना यदि ध्यान करने बैठे तो सब गड़बड़ और मिथ्यात्व का कोलाहल खड़ा होता है। उसमें एकाग्रता आत्मा में नहीं होती।

अर्थ नीचे। **उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर...** पहला तो आत्मा को भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने जाना और आगम वाणी द्वारा कहा और गुरु ने जानकर... यह गुरु वाणी द्वारा कहते हैं, उसे पहले जानना चाहिए। उसमें होगा, भाई उसमें। यह श्लोक है। **उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर...** २२वीं गाथा के पीछे अन्तिम है। है ? समझ में आया ? **श्रुतज्ञान के द्वारा...** ऐसा क्यों कहा ? कि पहले तो इसे ज्ञानी के पास, सच्चे ज्ञानी के पास आत्मा कैसा है, ऐसा इसे जानकर निर्णय करना चाहिए। नहीं तो बहुत ध्यान करते हैं समझे बिना। हम ध्यान में उतरते हैं, हम ध्यान में, हमें ऐसे सफेद दिखता है, पीला दिखता है, अमुक दिखता है, वह तो सब जड़ है। समझे बिना के और वास्तविक आत्मपदार्थ को ऐसा सर्वज्ञ ने देखा, ऐसा शास्त्र और गुरुगम से न जाने तो उसका ध्यान और एकाग्रता सच्ची नहीं हो सकती। भ्रमणा की एकाग्रता होती है और जड़ हो जाता है। कहीं शुभ आदिक बाँधे और स्वर्गादि में जाये, परन्तु आत्मा का भान नहीं होता। मूढ़ रहता है मूढ़।

अभी बहुत चला है न। अब तब क्रियाकाण्ड नहीं, आत्मा का ध्यान करो, आत्मा का ध्यान करो। परन्तु किसका ध्यान ? अभी चीज़ क्या है ? आत्मा क्या पदार्थ है ? और उसकी स्थिति सर्वज्ञ भगवान ने कैसी देखी है ? उसे लक्ष्य में लिये बिना, स्वभाव का पक्ष हुए बिना स्वभाव के ओर की एकाग्रता उसमें नहीं हो सकती।

इसलिए कहते हैं, **उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर...** आत्मा एक समय में पूर्ण ज्ञान, आनन्द की शक्ति सम्पन्न है। द्रव्यस्वभाव से पूर्ण है, उसकी पर्याय में अल्पज्ञता और राग-द्वेष है। उसे कर्मादि, राग में, पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, इसलिए

निमित्त भी कहा जाता है। उसका लक्ष्य छोड़े और स्वभाव की दृष्टि करे तो अन्तर पर्याय में निर्मलता होती है। अनन्त गुण आत्मा में पड़े हैं। उनमें से एक-एक गुण की समय-समय में पर्याय हुआ करती है। वह पर के लक्ष्य से विपरीत होती है और स्व के आश्रय से अविपरीत अर्थात् सम्यक् होती है। ऐसा वास्तविक सम्यग्ज्ञान शास्त्र द्वारा इसे आत्मा को जानना चाहिए।

पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। पश्चात् अन्तर में ज्ञानानन्द हूँ, ऐसा ज्ञान द्वारा ज्ञान में स्वसंवेदन से अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष से आत्मा का अनुभव करे। यह आत्मा को मोक्ष का उपाय है। कहो, समझ में आया? पहले श्रुतज्ञान को जाने बिना... माल को तोले बिना सीधे खाना खाने लगे, माल क्या है? भाव क्या है? कितना लेना है? किस भाव का है? क्या चीज़ लेनी है?—ऐसा निर्णय किये बिना हलवाई की दुकान में जाये और माल सीधे खाने लगे अन्दर बर्फी और जो हो वह। धक्का मारे वह। मूर्ख है? परन्तु मैं माल लेने आया न? परन्तु लेने आया तो पूछ तो सही। क्या चीज़ चाहिए है, कितने रुपये सेर कितनी मिली है? तुझे कितनी चाहिए? ऐसा निश्चित किये बिना खाने लगे तो मूर्ख कहलायेगा।

इसी प्रकार आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में त्रिकाल शुद्ध आनन्दकन्द का अंश द्रव्यस्वभाव है, पर्याय में अल्पज्ञ, राग-द्वेष है, उसका पलटना होता है, वस्तुरूप से—सदृशरूप से ध्रुव रहता है, उसके अन्तर में से, द्रव्य में से निर्मल पर्याय आती है, अल्प पर्याय राग-द्वेष और निमित्त में से नहीं आती। ऐसा आत्मा पहले लक्ष्यगत किये बिना उसका सच्चा ध्यान और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि **श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर पीछे...** पीछे शब्द लिया अर्थात् पहले ऐसा (होता है)। पहले शास्त्र द्वारा (और) गुरुगम से जैसा आत्मा है, वैसा जानकर, बाद का अर्थ? पीछे अर्थात् कि ऐसा है, उसके लक्ष्य में लेना चाहिए। पश्चात् स्वस्वरूप में अन्तर वेदन द्वारा ज्ञान को ज्ञान द्वारा एकाग्र करके वेदन करना, यह आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। **जो श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं लेता...** भगवान सर्वज्ञदेव ने आगम में कहा हुआ आत्मा, ऐसे आत्मा को श्रुतज्ञान द्वारा जो नहीं जानता, **वह आत्मस्वभाव के**

विषय में गड़बड़ा जाता है। वह आत्मा कैसा है, इसमें उसकी गड़बड़ी होती है। उसे वास्तविक ज्ञात नहीं होता।

इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामी के समाधिशतक में कहा है- इस श्लोक का दृष्टान्त दिया। **मैं इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर...** इसमें इतना तो पहले सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय है, भावेन्द्रिय खण्ड-खण्ड होती है, द्रव्येन्द्रिय जड़ निमित्त है, बाह्य के परपदार्थों की अस्ति ज्ञान का बाह्य विषय है और विषय करनेवाली ज्ञान की पर्याय बाहर में झुकती है और यह विषय और इन्द्रिय खण्ड-खण्ड और द्रव्येन्द्रिय का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानानन्द की ओर में झुकाव करे तो निर्मल अवस्था हो सकती है। इस प्रकार **इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर...** अपने को हटाकर। अपने को हटाकर। राग से नहीं, अपना आत्मा आनन्द और ज्ञान है, यह राग और पुण्य में जो लक्ष्य करके रहा है, उसे हटाकर **अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप...** देखो! और आत्मा में ज्ञान और आनन्द तो रहा हुआ ही है। आत्मा की अन्तर शक्ति के पदार्थ स्वभाव में ज्ञान और आनन्द है। ऐसे ज्ञानस्वरूप, ऐसा परमानन्दमय आपको। ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द तो आत्मा के स्वभाव में उसके असंख्य प्रदेश में, स्वक्षेत्र में, स्वभाव में वह वस्तु पड़ी है।

आपको अपने ही द्वारा... द्वारा नहीं, मन द्वारा नहीं, निमित्त द्वारा नहीं, अपने ज्ञान द्वारा और ज्ञान द्वारा ज्ञान में एकाग्र होकर आत्मा को **प्राप्त हुआ हूँ।** लो, इस प्रकार से आत्मा की प्राप्ति होती है। समझ में आया? यह बाहर से किसी पदार्थ से नहीं होती, इन्द्रिय से नहीं होती, भावेन्द्रिय खण्ड-खण्ड जो पर के ऊपर लक्ष्य करे, उससे स्वसंवेदन ज्ञान नहीं होता। और स्वसंवेदन प्रमाणज्ञान बिना, मुख्य प्रमाण बिना दूसरे प्रमाण भी व्यवहार से सत्य नहीं हो सकते। समझ में आया? सब प्रमाणज्ञान में मुख्य प्रमाणज्ञान स्वसंवेदन है। उसके अन्तर के भान बिना व्यवहार आगम, अनुमान, अटकल, परोक्ष ये सब ज्ञान सम्यक् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन बिना उसे—दूसरे को व्यवहार ज्ञान भी कहने में नहीं आता। समझ में आया? इसका श्लोक शीतलप्रसादजी ने किया है।

मन को कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।
आतमज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय।।२२।।

भगवान आत्मा को मन और इन्द्रिय से हटाकर, '**सब इन्द्रियविषय मिटाय...**' इन्द्रिय विषय मिटे अर्थात् इन्द्रिय का लक्ष्य भी छूटकर, '**आत्मज्ञानी आत्मा में...**' अपने आत्मा में, ज्ञान में, आत्मज्ञानी आत्मा में '**निज को निज से ध्याय।**' अपने को अपने से ध्यान करे, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करने का उपाय है। उसे मोक्ष का उपाय यह कहा जाता है। दूसरा कोई उपाय है नहीं। बहुत संक्षिप्त और बहुत बड़ा। यही मार्ग है। बाकी सब यह और इन्द्रियाँ, मन, निमित्त और बाह्य और बाह्य पदार्थ तथा दया, दान, भक्ति, व्रत, तप के विकल्प, यह तो सब राग है। यह कहीं सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय नहीं है। ऐसे आत्मा की प्राप्ति के ये कारण ही नहीं हैं।

एक भगवान आत्मा शास्त्रज्ञान द्वारा... तो शास्त्र यह कहते हैं कि जो करना चाहता है, वह कहता है। जो शास्त्र और गुरु और सर्वज्ञ की वाणी ऐसा कहती है कि तेरा आत्मा वस्तु है। तुझमें ज्ञान और आनन्द है, वह परसन्मुख झुककर इन्द्रियाँ और मन की ओर तेरी पर्याय अर्थात् अवस्था झुककर परसन्मुख झुक गया है, इसका नाम संसार है। उसका झुकाव अन्तर में, इन्द्रिय-मन से रोककर अन्तर में कर, यह मोक्ष और छुटकारे का उपाय है। शास्त्र ने ऐसा कहा और ऐसा शिष्य ने किया। शास्त्र ने दूसरा कहा नहीं कि हमारे सामने देखकर तुझे राग होता है, दया, दान होते हैं, वह तुझे करनेयोग्य है, उसमें तुझे रहने योग्य है—ऐसा शास्त्र ने कहा नहीं। सेठी! तेरी पर्याय में जितने पुण्य के भाव, दया, दान, विकल्प आदि आवे और इन्द्रियाँ तथा मन निमित्तरूप से ज्ञात हो और बाह्य देव, गुरु, शास्त्र भी संयोगरूप से निमित्त गिने जायें, उसमें रहनेयोग्य है—ऐसा शास्त्र ने कहा नहीं। क्योंकि शिष्य करना चाहता है, वह शास्त्र ने कहा है, उसे करना चाहता है। शास्त्र ने यह कहा था कि पर से हटकर स्व में आ। पर में रहकर स्व में आ, ऐसा नहीं बन सकता। समझ में आया?

भाई, पहले देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग करे तो अन्तर में आ सके, ऐसा नहीं है। उस राग में भी यह सुना था कि अन्तर के लक्ष्य में जा तो लाभ (होगा और) लक्ष्य में भी यह बात आयी थी। इसलिए अनन्त आचार्य, अनन्त ज्ञानी और अनन्त शास्त्र इसे आत्मा के स्वसंवेदन की ओर झुकाने की ही बात करते हैं। राग और पुण्य, विकल्प और निमित्त, मन और इन्द्रिय बाह्य हो उसकी ओर रहने की बात नहीं करते। वह है, ऐसा जानने

की बात करे। वह है, ऐसा जानने की करे, परन्तु उसमें रहने से आत्मा का ज्ञान और आत्मकल्याण होता है, ऐसा कोई सच्चा शास्त्र नहीं कहता। और दूसरे प्रकार से कहे तो वे शास्त्र सच्चे हैं नहीं। कहो, समझ में आया?

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा – क्या फल मिलेगा? क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य जवाब देते हैं –

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।।२३।।

अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।
लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान।।२३।।

अर्थ – अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है, और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा?

विशदार्थ – अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञानरहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह–भ्रांति–संदेह) वाले मूढ़–भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह–भ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओं की तत्परता के साथ सेवा, स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है – 'ज्ञानमेव फलं ज्ञाने।'

'ज्ञान होने का फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञान का होना ही है, यह निश्चय से जानो। अहो! यह मोह का ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञान को छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। ज्ञानात्मा से ज्ञान की ही प्राप्ति होना न्याय है। इसलिये हे भद्र! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है, स्व–पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करने के योग्य है।'।।२३।।

फिर शिष्य पूछता है — भगवन्! आत्मा की उपासना का प्रयोजन क्या? अर्थात्, आत्मा की सेवा से क्या मतलब सिद्ध होता है क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक होती है।

इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं :—

जड़ से जड़ता ही मिले, ज्ञानी से निज ज्ञान।
जो कुछ जिसके पास वह, करे उसी का दान॥ २३॥

अन्वयार्थ :- **(अज्ञानोपास्तिः)** अज्ञान की, [अर्थात्, ज्ञानरहित शरीरादि की] उपासना [सेवा] **(अज्ञानं ददाति)** अज्ञान देती है, [अर्थात्, अज्ञान की उपासना से अज्ञान की प्राप्ति होती है], **(ज्ञानिसमाश्रयः)** और ज्ञानी-सेवा **(ज्ञानं ददाति)** ज्ञान देती है, [अर्थात्, ज्ञानी पुरुषों की सेवा से ज्ञान की प्राप्ति होती है]। **(यत् तु यस्य अस्ति तद् एव ददाति)** जिसके पास जो होता है, वही देता है, **(इदं सुप्रसिद्धं वचः)** यह सुप्रसिद्ध बात है।

टीका :- देती है। कौन वह? अज्ञान की उपासना, अर्थात् अज्ञान, यानी शरीरादि सम्बन्धी मिथ्याभ्रान्ति अथवा संदिग्ध (अज्ञानी) गुरु आदिक, उसकी उपासना-सेवा। क्या (देती है)? अज्ञान को, अर्थात् मोह-भ्रम-सन्देहलक्षणवाले अज्ञान को (मिथ्याज्ञान को); तथा देती है। कौन वह? ज्ञानी की, अर्थात् ज्ञानस्वभाव आत्मा की अथवा आत्मज्ञान सम्पन्न गुरु आदि की सेवा, अर्थात् अनन्यरूप से (तन्मयता से) सेवा। क्या (देती है)? ज्ञान, अर्थात् स्वार्थावबोधलक्षणवाला ज्ञान (देती है)।

श्री गुणभद्राचार्य ने 'आत्मानुशासन' श्लोक १७५ में कहा है कि — '**ज्ञानमेव...**'

ज्ञान का (ज्ञानी की उपासना का) फल, प्रशंसनीय अविनाशी सम्यग्ज्ञान ही है, यह निश्चय से जानो। अहो! यह मोह का ही माहात्म्य है कि (ज्ञान को छोड़कर) यहाँ भी, (अर्थात् इस उपासना में भी) दूसरा शोधता है।

शिष्य पूछता है — इस सम्बन्ध में क्या दृष्टान्त है?

आचार्य कहते हैं : — '**यत्तु यस्यास्ति तदेवं ददाति**' इसका अर्थ यह है कि

जिसके पास जो हो, वही देता है, अर्थात् जिसके स्वाधीन (पास) जो है, वह उसकी उपासना करने पर देता है। यह वाक्य लोक में सुप्रतीत है; इसलिए हे भद्र! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसकी, ऐसे आत्मा को, आत्मा द्वारा आत्मा में ही निरन्तर सेव॥२३॥

भावार्थ :- *अज्ञानी की उपासना करने से अज्ञान की और ज्ञानी की उपासना करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि जिसके पास जो होता है, वही प्राप्त होता है। इसलिए जिसको स्व-पर विवेक की ज्योति प्रगट हुई है, उसको आत्मा की, आत्मा द्वारा आत्मा में ही निरन्तर उपासना करनी योग्य है।*

गाथा - २३ पर प्रवचन

अब विशेष लेते हैं, देखो! **यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से...** आत्मा से अथवा आपके (—अपने) आत्मा की सेवा। भाई, दुनिया तो बाहर की सेवा की बात करती है। शिष्य तो यहाँ आत्मा की सेवा का पूछता है। **आत्मा से...** आत्मा से। आत्मा से आत्मा की उपासना—सेवा **सेवा करने से क्या मतलब सधेगा?** भगवान! उसकी सेवा करने से फल क्या आयेगा?

क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है,... विचारवान की प्रवृत्ति तो जो करे, उसका फल क्या, इसके ज्ञानपूर्वक होती है। क्या कहा? कोई भी काम करे तो विचारवान को इसका फल क्या है, इसका ज्ञान पहले होना चाहिए। बराबर है? सेठी! विचारवान को। मूरख की बात यहाँ नहीं है। **विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक...** जो कुछ मैं करता हूँ, उसका फल क्या होगा? इसके ज्ञानपूर्वक, फल के ज्ञानपूर्वक, फल के ज्ञानपूर्वक, कार्य के ज्ञानपूर्वक उस विचारवान की प्रवृत्ति होती है। फलज्ञानपूर्वक बिना की विचारवानों की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य जवाब देते हैं :- विशिष्टता क्या है? शिष्य ने तो ऐसा पूछा कि प्रभु! इस आत्मा की सेवा करने का फल क्या? इस फल का ज्ञान तो पहले बताओ? इस फल के ज्ञान बिना हम विचारवान कोई प्रवृत्ति नहीं करते। समझ में आया?

अब ऐसा करो, पर की सेवा करो, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप (करो) तो इसका फल क्या ? पुण्य। उसका फल क्या ? संयोग। विचारवान प्रवृत्ति करे, उसका फल यथार्थ अपने को मिले ऐसा होना चाहिए। वह तो संयोग मिलते हैं। शुभभाव करे, व्यवहाररत्नत्रय आदि करे, विकल्प करे, उसमें तो पुण्य बँधता है और पुण्य से तो संयोगफल (मिलता है)। तो विचारवान की प्रवृत्ति ऐसे संयोगफल मिले, ऐसे ज्ञानपूर्वक होती नहीं। बराबर है ? जमुभाई ! ओहोहो ! कहो, बेचरभाई !

क्या कहते हैं ? हमको क्या फल मिलेगा, उसके ज्ञानपूर्वक विचारवान की प्रवृत्ति होती है। मूढ़ की जैसे-तैसे नहीं। क्या करूँगा और यह कहाँ जायेगा फल और क्या आयेगा ? करते रहो। क्रियाकाण्ड करो, व्रत करो, तप करो, कुछ तो मिलेगा। वह तो मूढ़ है। कहते हैं कि उसके फल में पुण्य आयेगा और उसके फल में संयोग आयेंगे। तो विचारवान की प्रवृत्ति फलज्ञानपूर्वक होती है। तो जिसका फल बन्ध और संयोग मिले, ऐसी विचारवान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। समझ में आया ?

फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है,... अर्थात् मूढ़रूप से नहीं हुआ करती, ऐसा कहते हैं। हम सेवा करते हैं आत्मा की (तो) फल क्या ? दुनिया की सेवा करे, राजा की सेवा करे तो कुछ पैसा आदि मिले, ऐसा विचारकर करते हैं। सेठिया की सेवा भी कुछ पैसा-वैसा दे तो सेवा करते हैं। तो आत्मा की सेवा करने से मिलेगा क्या ? ऐसे विचारपूर्वक ज्ञान हो तो वह प्रवृत्ति करे, नहीं तो ज्ञानी विचारवान प्रवृत्ति नहीं करते। इसका उत्तर देते हैं।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।।२३।।

अर्थ - अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित... देखो ! क्या उत्तर देते हैं गुरु पूज्यपादस्वामी ? **ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है,...** क्या कहते हैं ? हे शिष्य ! यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसके अतिरिक्त ये पुण्य और पाप, राग और द्वेष, दया-दान अज्ञानभाव है। क्योंकि इनमें ज्ञानस्वभाव नहीं। पुण्य के परिणाम अज्ञानभाव। अज्ञानभाव अर्थात् क्या ? कि इनमें ज्ञान नहीं है। यह पुण्यभाव तो ज्ञानी को भी होता है। परन्तु भाव होने पर भी वह अज्ञानभाव अर्थात् कि उसमें ज्ञानपना नहीं। उसमें मिथ्यापना है, ऐसा नहीं

है। परन्तु उसमें ज्ञान की जागृति नहीं है। पुण्य के भाव में, पाप के भाव में, शरीर के भाव में, शरीर की अवस्था में, वाणी की अवस्था में, पर शरीर , वाणी, इन्द्रिय, मन में यह आत्मा का जो ज्ञानस्वभाव है, उसका विकार में, मन में, इन्द्रिय में, शरीर में अभाव है। ऐसा जो अज्ञान... भाई! यह अज्ञान, हों! वह विपरीत बुद्धि यहाँ अभी नहीं।

यहाँ तो ज्ञान **अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित...** ऐसा चिदानन्द भगवान ज्ञानस्वभावी आत्मा वस्तु से उल्टी पुण्य-पाप की अवस्था, शरीर-वाणी-मन, उसमें कहीं आत्मा का ज्ञान नहीं है। ऐसे **शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है,...** कहो, उसे अज्ञान देती है। अर्थात् पुण्य की सेवा, शरीर के ऊपर लक्ष्य की, परपदार्थ के आश्रय के लक्ष्य की सेवा में तो पुण्यबन्धन होकर पापबन्धन और संयोग मिलेंगे। उसमें अज्ञान की सेवा से अज्ञान देती है। भारी संक्षिप्त व्याख्या। क्या कहा, समझ में आया?

दो बात यहाँ से लेना है। मात्र ज्ञान और अज्ञान। प्रभु! एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में ऐसे ज्ञान की मूर्ति चैतन्यस्वभाव का सत्त्व है, वह ज्ञान है। तथा पुण्य और पाप, काम और क्रोध, दया और दान, मन और वाणी और इन्द्रिय तथा परपदार्थ अनन्त, उन सबमें सेवा अर्थात् रुकने से अज्ञान की अर्थात् राग और विकार की प्राप्ति होती है। उसमें आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। कहो, समझ में आया?

दो बोल। एक ओर राम और एक ओर गाँव। एक ओर चैतन्यराम। ज्ञानस्वभाव, उस पदार्थ में ज्ञान और आनन्द अन्तर में है। शक्तिरूप न हो तो आवे नहीं। प्राप्त की प्राप्ति है। उसमें है। उससे विरुद्ध पुण्य और पाप के भाव, आस्रवभाव, वह भी यहाँ अज्ञानभाव है। अज्ञान अर्थात्? कि उनमें ज्ञान की जागृति का भाव नहीं है। इसलिए पुण्य और पाप, शरीर, वाणी, इन्द्रिय की सेवा करने से अज्ञान की प्राप्ति होती है। सेठी! इसलिए आत्मा की जागृति नहीं होती, परन्तु आत्मा अवृत्त होकर ढँक जाता है। समझ में आया?

ज्ञान से रहित शरीरादिक... आदि में सब आया। पुण्य के परिणाम, व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के (परिणाम), पंच महाव्रत के परिणाम, वह राग। राग की सेवा करने से राग प्राप्त होता है। अर्थात् कि उसमें आत्मा प्राप्त नहीं होता। ओहोहो! कहो, समझ में आया? **सेवा अज्ञान को देती है,...** अर्थात् आत्मा के ज्ञान को आवृत्त

करती है, ढँकती है, शक्ति की व्यक्तता नहीं होने दे, ऐसे भाव तो वह देती है। बराबर है? सेठी!

और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है। ज्ञानी के दो अर्थ करेंगे। ज्ञानी आत्मा और ज्ञानी धर्मात्मा। ज्ञानी आत्मा और ज्ञानी धर्मात्मा दूसरा। उसकी सेवा करने से अर्थात् धर्मात्मा भी यही कहते हैं कि अन्दर अन्तर की एकाग्रता कर। धर्मात्मा, सर्वज्ञ केवली, शास्त्र, समकिती, श्रावक या मुनि सबका एक ही उपदेश है कि तेरा आत्मा अन्तर ज्ञानानन्दस्वभाव में भरपूर है, आनन्द से भरपूर है, उसकी सेवा कर। अर्थात् धर्मात्मा की सेवा की तब कहलाती है। धर्मात्मा ने कहे हुए आत्मा के स्वभावसन्मुख की सेवा करे, तब धर्मात्मा की और आत्मा की सेवा की, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त।

दो भाग। व्यवहार की सेवा करने से अज्ञान की प्राप्ति है। भाई! ऐसा कहते हैं। मोहनभाई! ओहो! भारी कठिन बात जगत को। वे कहते हैं कि व्यवहार होगा तो निश्चय होगा। यहाँ कहते हैं कि व्यवहार के राग की सेवा करने से अज्ञान प्राप्त होगा। अर्थात् कि ज्ञान की जागृति नहीं होगी परन्तु उसके राग में ज्ञान आवृत्त होकर ढँक जायेगा। समझ में आया?

यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है,... चमार की-चमड़े की मोची की दुकान में जाये तो चमड़ा देता है, हीरा-माणिक की दुकान में जाये तो हीरा देता है। जिसके पास जाये, वह हो वह देता है। ऐसे आत्मा के पास अन्दर ज्ञानस्वभाव है, और धर्मात्मा के पास दृष्टि के विषय में आत्मा ज्ञानमूर्ति ही है। इसलिए धर्मात्मा या आत्मा दोनों की सेवा करने से ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है। समझ में आया?

यह बात प्रसिद्ध है... आया है न? यह तो '**सुप्रसिद्धमिदं वचः**' जगत में प्रसिद्ध है कि जिसके होगा, वह देगा, बापू! नहीं होगा वह क्या देगा? लोग ऐसा नहीं कहते कि गाली दे। बापू! तेरे पास गाली है तो गाली दे। हमारे पास कहीं गाली नहीं तो हम गाली कहाँ से दें? ऐसा कहते हैं या नहीं? सेठी! गाली को क्या कहते हैं? गाली-गाली।

गालियाँ। बहुत गालियाँ दे। भाई! तेरे पास गालियाँ पड़ी होंगी, बापू! तेरी खान में। तो तू दे। हमारे पास तो कुछ है नहीं। लोग ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि भाई! हमारे पास तो अनाज है। यह पकाकर... हमारे पास पैसा नहीं। तुझे चाहिए हो तो अनाज ले जा। रसोई में जाकर हीरा-माणेक माँगे तो? दुकान में जाकर माँगे। लो, दुकान हो। यह बड़े साहूकार की अच्छी। दो तकिये पड़े हों और दो लोग बैठे हों। अरे! बापू! बढ़े-घटे चावल, रोटियाँ, दाल-भात देना। परन्तु यहाँ देखता नहीं? सामने दीवार दिखती है और तीन दुकान में बैठे हैं। यहाँ कहाँ स्त्री है? यहाँ कहाँ रसोई है? यहाँ कहाँ चूल्हा? समझ में आया? ऐसा हुआ था एक जगह। बहुरूपिया है न बहुरूपिया? बहुरूपिया भिखारी होकर आया। बाल ऐसे होते हैं और बाल की गाँठ ऐसे डालकर। मानो बड़ा फोड़ा हुआ हो। ऐसे रखे। माँ-बाप! कुछ बढ़ा-घटा (हो तो देना)। क्योंकि वह तो बहुरूपिया था। उसे खबर है (कि) यहाँ नहीं। नहीं खबर? तब वह कहता है कि ऐ... खबर नहीं तुझे, यहाँ सामने दीवार दिखती है। यहाँ चार हाथ का यहाँ मकान है। यहाँ बैठे हैं दो तकिये, एक यह, मैं और यह। हम कुछ नहीं। यह क्या कहलाता है वह लकड़ी का? गल्ला। यह गल्ला है। इतनी अक्ल नहीं कि यहाँ रोटियाँ और दाल, भात माँगने जाता है। वह तो जानता था कि मुझे खबर है। क्योंकि वह तो बहुरूपिया था, इसलिए वह तो, दो न माँ-बाप, ऐसा कहकर वह पहिचानता है या नहीं? (जाँचता था)। पहले दिन आया था बड़ा गोरा होकर। अंग्रेज बराबर टोपी और हाथ में... यह रसीद आयी है या नहीं? यह अमुक आया है या नहीं? कितनी पेटी भेजी? वे तो विस्मित हो गये। इसे हाँ, ना किस प्रकार करना? बड़ा अंग्रेज है। ऐसा रौब बराबर। फिर उसे हुआ, ठीक, यह वह बहुरूपिया प्रतिदिन वेष लेकर आता है, वह लगता है। ऐ तू तो भाण्ड। हँस कर चला गया। भाई! अपने आता है न समयसार में? जिसका जो रूप है, उसे प्रकाशित करे, इसलिए उसकी पोल खुल्ली हो जाती है।

इसी प्रकार आत्मा। उसके स्वभाव में तो ज्ञान और आनन्द की खान पड़ी है। उसके पास माँगे कि पुण्य देना, पाप देना, विकार देना, स्वर्ग देना, नरक देना, सेठाई देना, चक्रवर्ती पद देना। आत्मा की खान में यह नहीं है। समझ में आया? आत्मा में तो ज्ञान,

आनन्द और शान्ति अन्तर में पड़ी है। उसके पास सेवा कर तो ज्ञान और शान्ति मिलेगी। तथा पुण्य और पाप के राग की सेवा करे तो पुण्य-पाप का बन्धन होकर संयोग मिलेंगे। उसमें आत्मा—ज्ञान मिलेगा नहीं। कहो, बराबर है? वाडीभाई! वापस लाकर रखा निश्चय।

यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज़ जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा? जिसके पास वह नहीं, उसे देगा कहाँ से? वस्त्र हो, वह वस्त्र दे। बापू! कुछ वस्त्र बढ़ा-घटा देना। यह देना, पानी पिलाना। प्यास लगी है, पानी तो दो। बापू! दूसरा तुम न दे सको तो पानी तो पिलाओ। तो उसके पास पानी हो तो गरीब व्यक्ति पानी भी दे। जिसके पास हो, वह दे। उसी प्रकार आत्मा में एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण पदार्थ के स्वभाव में शान्ति, आनन्द और पूर्ण वीर्य पड़ा है। उसकी ओर का झुकाव सेवा करे तो वह मिले। और राग, पुण्य और निमित्त में कहीं तेरा स्वभाव नहीं है कि निमित्त की सेवा और राग-द्वेष की सेवा करने से तुझे आत्मलाभ हो। वहाँ तो अज्ञान का लाभ होगा। अज्ञान का अर्थात् पुण्य-पाप का लाभ होगा और उससे संयोग मिलेंगे। भाई! बराबर है? कहो, समझ में आया इसमें?

विशदार्थ - अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं... विशदार्थ। विशद—बहुत विस्तार अर्थ। **एक तो ज्ञानरहित शरीरादिक...** एक तो ज्ञानरहित शरीर, वाणी, मन, पुण्य, पाप के भाव **और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रान्ति-सन्देह) वाले मूढ़-भ्रान्त तथा संदिग्ध गुरु आदिक।** एक तो पुण्य-पाप और शरीर में ज्ञान नहीं और मिथ्याज्ञानी मूढ़ प्राणी, मूढ़-भ्रान्त संदिग्ध गुरु। कैसा आत्मा होगा? कैसे प्राप्त होगा? ऐसे होगा? राग से होता होगा? पुण्य से होता होगा? संयोग से होता होगा? किसी ईश्वर की कृपा होवे तो हो जाता होगा? प्रसन्न भक्ति भगवान की करे त्राटक करके, एकाकार करके तो हो जाता होगा? ऐसा जिसे सन्देह और शंका है और वास्तविक पदार्थ का भान नहीं, ऐसे गुरु की सेवा करे तो, कहते हैं, अज्ञान मिलेगा। ऐसे गुरु से तो वह कहेगा कि यह तो ऐसा कर, पहले ऐसा करना, फिर ऐसा करना। फिर करते-करते ऐसा हो जायेगा। राग करना, पुण्य करना, विकल्प करना, विकल्प करते-करते निर्विकल्प हो जायेगा। तीन काल में नहीं होगा और उसकी मूढ़ता जायेगी नहीं। समझ में आया? क्योंकि राग और पर के ऊपर रुचि कराता है और उसके

आश्रय से स्वभाव को लाभ बताता है, तो उसका अभाव करके स्वभाव का लाभ का जो रास्ता है, वह रास्ता तो इसने जाना नहीं। इसलिए मूढ़ की सेवा करने से मूढ़ता की प्राप्ति होगी।

सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-भ्रम व सन्देह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है। अज्ञानी की सेवा से मिथ्याज्ञान की प्राप्ति होगी। कहो, भगवानजीभाई! बराबर है? वह दूसरा यह कहेगा कि तुम यह सब बातें करते हो परन्तु आत्मा... आत्मा... आत्मा... इतना और तो आत्मा अनन्त काल में प्राप्त नहीं हुआ, किसलिए? कि पर की आशा रखी थी। आशा से करणी (की थी)। यदि आशा बिना करणी करो पुण्य की तो तुम्हारा कल्याण होगा। वह मूढ़ जीव ऐसी विपरीतता घुसा डालेगा। कहो, समझ में आया? भाई! भगवान की कृपा हो जायेगी कभी, (बस) करते रहो। 'चला जाये दरबार में पल्ला पकड़े न कोई' दरवाजा खटखटाना और खटखटाते-खटखटाते कभी अन्दर (जाया जायेगा)। परन्तु दरवाजा देखे, अन्दर राजा देखे, उसका भान होता है या नहीं? अन्दर भिखारी बैठा हो और दरवाजा अकेला अच्छा होवे बढ़िया तो? इसी प्रकार आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पुण्य और पाप और बाह्य झुकाव से लाभ मान बैठा और बाह्य से लाभ मनानेवाले कुगुरु मिल जाये तो उसे अज्ञान की प्राप्ति होगी। मगनभाई! बराबर है? देखो! बात जरा सूक्ष्म है।

कहते हैं, किसी निमित्त की सेवा करने से लाभ बतावे मूढ़ (तो) मूढ़ता की प्राप्ति करेगा। ऐसा कहते हैं, लो। भाई! ओहोहो! क्योंकि निमित्त की सेवा में यह ज्ञानस्वभाव पड़ा है? आत्मा का पदार्थ स्वभाव तो अन्दर में पड़ा है। उस निमित्त की सेवा (करने जाता है), और अन्तर में प्रभु पड़ा है, उसे शोधने-खोजने-रुचि करने नहीं जाता। ... परन्तु मुझमें रहकर जाननेवाला-देखनेवाला और मुझे भी मुझमें रहकर जाननेवाला-देखनेवाला... करे तो आत्मा की सेवा करे धर्मात्मा स्व-परप्रकाश ... करे, ऐसा कहते हैं। अर्थ (धन) होवे और राग आवे वह अलग बात है। परन्तु उसके द्वारा मैं पर की सेवा कर सकता हूँ, यह बात वस्तु के स्वरूप में नहीं है। तब कहते हैं कि राग की सेवा, उसमें एकाग्र होना, उसकी अपेक्षा ज्ञान में एकाग्र होना। यह अविनाशी केवलज्ञान को प्राप्त करानेवाले हैं, जो आया वह जाये नहीं। और इस राग की सेवा से संयोग आयेंगे, चले जायेंगे। और दूसरा अशुभ

राग किया, उसका पाप आवे तो प्रतिकूल संयोग होंगे। वह तो कोई नाशवान चीज़ है, कोई अविनश्वर नहीं। पुण्य बहुत किये हों तो पाँच-पचास-सौ वर्ष लक्ष्मी मिले। कहो, समझ में आया? कितनी लक्ष्मी आदि मिली, अन्त में फू हो गया। एकदम चला गया सब। एक दृष्टान्त था। एकदम सब चला गया। गरीब मनुष्य हो गया। ओय... यह! कहो, समझ में आया?

रात्रि में मुम्बई में हुआ था न पहले? सो रहे थे तो वह धुँआ लगा। दरवाजा बन्द। सब मर गये। रुपये, पैसे, मकान और गहने ऐसे के ऐसे पड़े रहे। दरवाजा बन्द किया और धुँआ लगा। सो रहे थे इसलिए फिर ऐसी जहाँ उलझन आयी उसकी खबर नहीं रही और उसी में मर गये एकसाथ। स्त्री-पुत्र-आदमी सब एकसाथ। परन्तु ऐसा होता है। अनन्त बार प्रत्येक को हुआ है। यह मानो कि मेरे घर में नहीं है। उसमें दृष्टान्त नहीं दिया था? वृक्ष के ऊपर मनुष्य बैठा था। चारों ओर वन सुलगा। पच्चीस हाथ दूर था। परन्तु अब देरी कहाँ है तेरे घर को सुलगने में। वह मानो कहे, यह सिंह सुलगता है, मृग सुलगते हैं, वृक्ष सुलगते हैं। परन्तु ऐसे पूरे वन में सुलगते-सुलगते यहाँ आता है। यदि यहाँ सब घास है तो तेरा सुलगेगा। ऐसे ऊपर खड़ा था। देखो, यह सब सुलगते हैं, देखो, चारों ओर सुलगते हैं। अपन एक अकेले रहे हैं। दिक्कत नहीं, अभी दस मिनिट है। वृक्ष सुलगते-सुलगते सीधे पूरा वृक्ष नीचे गिरेगा, एकदम। परन्तु उसे अज्ञानी नहीं देखता। इसी प्रकार दूसरे दुःखी, दूसरे को आपदा, दूसरे को प्रतिकूलता, दूसरे को संयोग नहीं, उसका पुत्र खराब, उसकी स्त्री खराब। मेरे तो सब ठीक है। क्यों, भीखाभाई?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग में देखता नहीं। घर में मरण हो न लड़के का। ऐसी तैयारी हो मरण की। रागी है न! दूसरे के घर में जाये तो अब कहे भाई अपने ध्यान रखना। जरा सम्हालना। बस, ऐसा कहे दे। अर्थात् कि यह बचेगा नहीं। दूसरे के किसी के लड़के की बीमारी हो तो देखो... क्योंकि वहाँ कहाँ घर का लड़का है? ... अब तो इसमें कुछ... घर के लड़के को ऐसा आया हो तो वह राग है न। दिक्कत नहीं। अभी बच जायेगा, अभी ऐसा हो जायेगा। दूसरा कहे परन्तु यह चतुर मनुष्य, इसके लड़के के घर में यह समझता

नहीं परन्तु नहीं समझता। राग का मारा यथार्थ नहीं देख सकता।

इसी प्रकार अज्ञानी पुण्य और पाप तथा परपदार्थ की रुचिवाला, यह मेरी रुचि खोटी है और यह दूसरा स्वरूप कुछ अलग है, इस प्रकार से सावधान होकर समझ नहीं सकता। कहो, समझ में आया?

अनन्य शरण होकर भावना करने के योग्य है। लो! क्या कहा? अनन्य शरण होकर। अनन्य शरण अर्थात्? दूसरा कोई शरण नहीं। पुण्य-पाप निमित्त, शरीर, वाणी, मन। अनन्य शरण अर्थात् आत्मा ही एक शरण है। दूसरा कोई शरण नहीं। अनन्य शरण भाषा कैसी प्रयोग की, देखा! एक ही बात, ऐसा। एक ही आत्मा शरण। अनन्य शरण। अनन्य अर्थात् अन्य कोई शरण नहीं। पुण्य नहीं, पाप नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, देह नहीं, गुरु नहीं, शास्त्र नहीं। एक चैतन्य आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरपूर, ऐसे **होकर भावना करने योग्य है।**

अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।
लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान।।२३।।

लो, अज्ञभक्ति अज्ञान की सेवा, वह अज्ञान को देती है, ज्ञान की सेवा ज्ञान को देती है। लोग में भी कहा जाता है, उसके पास जो होगा वह देगा, बापू! उसके पास जो नहीं होगा, वह क्या देगा? समझे न? शास्त्र की बात कर आत्मा की। परन्तु उसके पास कथा और वार्ता पड़ी हो तो कथा-वार्ता देगा। अध्यात्म की बात न हो, वह कहाँ से देगा? गुड़ के पास लेने जाये कि देना मक्खन। परन्तु यहाँ मक्खन कहाँ था? यहाँ तो गुड़ की भेली पड़ी है। जो हो, वह दे। ऐसे **लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान।** जो उसके पास हो, वह देगा। ज्ञानी ज्ञान दे, आत्मा ज्ञान दे और पुण्य-पाप की सेवा अज्ञान दे। इसलिए तुझे जिसकी सेवा करनी हो वह कर। वह तो अनादि काल से की अब। अब इस आत्मा की सेवा करने से केवलज्ञान प्राप्त होगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्य का अध्यात्मयोग के बल से बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरूप पुद्गल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिल जाना रूप बंध होगा? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। और बंध का प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मों की विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीव को कैसे बन सकेगा? जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुख का कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है? आचार्य कहते हैं –

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्।।२६।।

मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।
यातें गाढ़–प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय।।२६।।

अर्थ – 'ममतावाला जीव बँधता है, और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिए हर तरह से पूरी कोशिश के साथ निर्ममता ही ख्याल रखे।'

विशदार्थ – अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये, 'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है। उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है–'न कर्मबहुलं जगन्नत्र'

अर्थ – न तो कर्मस्कन्धों से भरा हुआ यह जगत् बंध का कारण है, और न हलन–चलनादिरूप क्रिया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन–अचेतन पदार्थों का विनाश करना ही बन्ध का कारण है। किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। यदि वही जीव निर्मम–रागादिरहित–उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मों से छूट जाता है। कहा भी है कि – 'अकिंचनोऽह।'

मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोक के

स्वामी हो जाओ। यह तुम्हें बड़े योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।

और भी कहा है – 'रागी बध्नाति कर्माणि।' रागी जीव कर्मों को बाँधता है। रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेप में बंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्र का उपदेश है। जबकि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्न से व्रतादिकों में चित्त लगाकर अथवा मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिये 'मतः कायादयो भिन्नास्।'

'शरीरादिक, मुझसे भिन्न हैं, मैं भी परमार्थ से इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हूँ।' इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से मुमुक्षु को भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासन में गुणभद्रस्वामी ने कहा है। 'निवृत्तिं भावयेत्।'

जब तक मुक्ति नहीं हुई, तब तक परद्रव्यों से हटने की भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। बस वही अविनाशी पद जानो।।२६।।

यहाँ शिष्य कहता है कि तब बन्ध और उसका प्रतिपक्षरूप मोक्ष किस प्रकार? भगवान! यदि अध्यात्मयोग से आत्मद्रव्य और द्रव्यकर्म को विश्लेष (एक-दूसरे से भिन्न) किया जावे तो किस प्रकार, अर्थात् किस तरह के उपाय द्वारा इन दोनों का बन्ध, अर्थात् परस्पर प्रदेशानुप्रवेश लक्षण संश्लेष (संयोगरूप बन्ध) हो? कारण कि इस पूर्वक (बन्धपूर्वक) ही विश्लेष (वियोग) होता है, और उसका प्रतिपक्षी, अर्थात् बन्ध-विरोधी मोक्ष, जो सम्पूर्ण कर्मों के विश्लेष (अभाव) लक्षणवाला है, वह जीव को किस प्रकार हो सकता है? कारण कि अनन्त सुख का कारण होने से, वह योगियों द्वारा प्रार्थनीय है।

गुरु कहते हैं :—

मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।
यातें गाढ़ प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय॥ २६॥

अन्वयार्थ :- (**सममः जीवः**) ममतावाला जीव और (**निर्ममः जीवः**) ममतारहित जीव (**क्रमात्**) अनुक्रम से (**बध्यते**) बँधता है और (**मुच्यते**) मुक्त होता है (बन्धन

से छूटता है); (**तस्मात्**) इसलिए (**सर्वप्रयत्नेन**) सम्पूर्ण प्रयत्न से (**निर्ममत्वं**) निर्ममत्व का (**विचिन्तयेत्**) विशेषरूप से चिन्तन करना चाहिए।

टीका :- अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, **मम** यह अव्यय है, उसका अर्थ अभिनिवेश होता है, इसलिए **समम,** अर्थात् **मम इदम्** — 'यह मेरा है' — ऐसे अभिनिवेशवाला (जीव) तथा उपलक्षण से **अहम अस्य** 'मैं इसका हूँ' — ऐसे अभिनिवेशवाला जीव, कर्मों से बँधता है।

(श्री अमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार कलश, श्लोक १६४ में) कहा है कि — '**न कर्मबहुलं.....**'

'कर्मबन्ध करनेवाला कारण, नहीं बहुत कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा लोक; नहीं चलनरूप कर्म (अर्थात्, मन-वचन-काय की क्रियारूप योग); नहीं अनेक प्रकार के करण (इन्द्रियाँ); और नहीं चेतन-अचेतन का घात। 'उपयोग भू', अर्थात् आत्मा, रागादि के साथ जो एक्य पाता है, वही एक (मात्र रागादि के साथ एकत्व का पाना ही) वास्तव में पुरुष को बन्ध का कारण है।'

तथा वही जीव जो निर्मम, अर्थात् उससे विपरीत (अर्थात्, रागादि से रहित उपयोगवाला) होता है, तो वह कर्मों से छूट जाता है।

(अनुक्रम संख्या की योजना के लिए श्लोक में **क्रमात्** शब्द का प्रयोग किया है, जैसे कि **समम:, बध्यते, निर्मम:, मुच्यते**)।

(आत्मानुशासन, श्लोक ११० में) कहा है कि — '**अकिञ्चनो.....**'

मैं, अकिञ्चन हूँ (अर्थात्, मेरा कुछ भी नहीं है) — ऐसी भावना करके बैठे रहो (परिणमों) और तीन लोक के स्वामी बन जाओ। यह तुम्हें, योगियों को गम्य, (जाना जा सके, वैसा) — ऐसा परमात्मा का रहस्य बताया है।

अथवा (ज्ञानार्णव) में कहा है कि — '**रागी बध्नाति.....**'

रागी (जीव), कर्म बाँधता है और वीतरागी जीव (रागादि से रहित जीव), कर्मों से मुक्त होता है। बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी जिनेन्द्र का यह संक्षेप में उपदेश है।

इसलिए सर्व प्रयत्न से व्रतादि में (शुद्ध परिणमन में) अवधान से (चित्त लगाकर) अथवा मन-वचन-काय की सावधानी से, निर्ममत्व का विशेष प्रकार से चिन्तवन करना चाहिए। (तत्त्वानुशासन में कहा है कि —)

'मेरे से शरीरादि भिन्न हैं और परमार्थ से मैं भी उनसे भिन्न हूँ; मैं उनका कुछ भी नहीं और वे मेरे कुछ भी नहीं', इत्यादि श्रुतज्ञान की भावना, मुमुक्ष को विशेषरूप से भाना चाहिए।

(श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन, श्लोक २३६ में) कहा है कि — '**निवृत्तिं....**'

जब तक मुक्ति न हो, तब तक (परभावों से) निवृत्ति की भावना करनी। उनके (परभाव के) अभाव में प्रवृत्ति और निवृत्ति ही नहीं रहेगी। वही अविनाशी पद है॥२६॥

भावार्थ :- *जब स्त्री-पुत्रादिक मेरे और मैं उनका — ऐसे ममकाररूप विभाव परिणामों से जीव परिणमता है, तब राग-द्वेषरूप परिणति के निमित्त से शुभाशुभकर्मों का बन्ध होता है, किन्तु जब स्त्री-पुत्रादिक पदार्थों में निजपने की कल्पना छोड़ देता है, तब निर्मम परिणामों से शुभाशुभकर्म का बन्ध नहीं होता; इसलिए निर्ममत्व का ही चिन्तवन करना चाहिए।*

जिस समय उपयोग विभावभावों से एकरूप होता है, उस समय राग-द्वेष के साथ एकताबुद्धि से परिणामरूप अध्यवसानभाव से बन्ध होता है। रागादि से एकतारूप उपयोग ही कर्मबन्ध का कारण है, परन्तु रागादि से एकतारहित उपयोग, बन्ध का कारण नहीं है; वह कर्ममुक्ति का कारण है।

जो पर को पर और आत्मा को आत्मा मानकर, रागी-द्वेषी नहीं होता और पर-पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना नहीं करता, अपितु उनके प्रति समभावी रहता है, वह कर्मों से छूटता है और परमात्मा बनता है।

रागी, कर्म से बँधता है और विरागी, कर्म से छूटता है — ऐसा जिनेन्द्र भगवान का बन्ध-मोक्ष का संक्षेप में उपदेश है। जब परद्रव्य मेरा नहीं — ऐसा परिणमन होता है, तब वह परम उदासीनतारूप परिणमता है और उसका फल, तीन लोक के जीव जिसको अपना स्वामी माने, वैसा पद वह प्राप्त करता है।

जब परभाव से रहित होकर मुक्त होता है, तब नहीं प्रवृत्ति अथवा नहीं निवृत्ति; केवल शुद्धस्वरूप ही है।

असोज शुक्ल १, शुक्रवार ०५-१०-१९५६, गाथा - २५-२६, प्रवचन - ४

पूरी और निर्मम अर्थात् पर के प्रति यह मैं हूँ और मेरे, ऐसी दृष्टि छूटकर स्थिर हो, वह बन्ध से छूटकर मुक्त होता है। बहुत संक्षिप्त व्याख्या बन्धमार्ग और मोक्षमार्ग की।

इसलिए हर तरह से पूरी कोशिश के साथ... है न प्रयत्न। सर्व प्रयत्न से लिया है, हों! सर्व पूरी कोशिश करना। पूरे **पुरुषार्थ के साथ निर्ममता का ख्याल ही रखे।** पूरे प्रयत्न से निर्ममत्व का ख्याल करे। २६वीं गाथा में है न, भगवानजीभाई! अर्थ है, अर्थ। समझ में आया? क्या कहा, सेठी? पूरी कोशिश के साथ प्रयत्न करे। किसका? **निर्ममता का ख्याल ही रखे।** इसका अर्थ ही यह आया। यहाँ तो पुरुषार्थ पूर्ण कहते हैं और तुम क्रमबद्ध कहो, उसमें कुछ पुरुषार्थ रहता नहीं। लोग शोर मचाते हैं न? क्रमबद्ध होता है। परपदार्थ में क्रमबद्धपर्याय और अपने में क्रमबद्ध क्रम-क्रम से होनेवाली होती है। उसमें **'तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्।'** सब पुरुषार्थ की निर्ममत्व की भावना करना, यह उसमें कहाँ आया? भाई! उसमें यह पुरुषार्थ आया। अनन्त परपदार्थ, उनकी पर्याय उसके कारण से, वे मेरे नहीं। ममत्वरहित कहा है न? निर्मम कहा है न?

पर अनन्त पदार्थ वे मेरे नहीं और मैं उनकी पर्याय करता नहीं। उसके कारण होती है। मुझमें भी जो क्रम से पर्याय होती है, वह तो द्रव्य में से होती है, द्रव्य से। इसलिए द्रव्य देखे तो शुद्ध और ज्ञायकमूर्ति है। ज्ञायकमूर्ति का प्रयत्न सर्व प्रयत्न द्वारा स्वभाव सन्मुख किया, वह निर्ममत्व हुआ और वह मुक्ति का कारण हुआ। कहो, मालचन्दजी! क्रमबद्ध में भी बहुत पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ नहीं रहता, नियत हो जाता है, ऐसा कहते हैं। एकान्त नियत हो जाता है। अरे! भाई! उसमें तो ज्ञाता-दृष्टा में निर्ममत्व का पुरुषार्थ आया। मुझे और शरीर को, कर्म को अनन्त-अनन्त पदार्थ को कुछ सम्बन्ध नहीं है। उसकी किसी प्रकार से मेरे विकल्प के कारण से व्यवस्था रहे, ऐसा नहीं होता। मेरे विकल्प के कारण से व्यवस्था अनन्त पर की रहे, ऐसा नहीं होता। मेरे ज्ञान की विचिक्षणता के कारण से सावधानी से

उसमें अवस्था रहे, ऐसा नहीं होता। ऐसे अनन्त परपदार्थ के प्रति ममता उठ गयी है। और स्वभाव-सन्मुख की प्रयत्न दशा हुई। मैं जाननेवाला, देखनेवाला। क्रम का जानने-देखनेवाला हूँ। ऐसे ज्ञाता-दृष्टा के प्रति, पर के प्रति निर्ममत्व भाव करके, स्वभाव सन्मुख होकर सर्व प्रयत्न द्वारा एकाग्र होना, इसका नाम क्रमबद्ध का कार्य और फल है।

अब कहते हैं, परन्तु हमारे दस भव भगवान ने देखे हों तो दस से कम नहीं करे? अरे! प्रभु! यह भगवान ने देखे हैं, ऐसा देखने जाये तो ज्ञान के माहात्म्य की ओर झुका। उसे भव और भव के कारण के माहात्म्य के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है। भव और भव के कारण तो विकार है। वे मेरे, वह तो ममत्व है। उसे भगवान का ज्ञान और भगवान के कहे हुए भाव की प्रतीति नहीं है। निर्मम। भव और भव के कारण, पर सब ज्ञान में ज्ञेय हो गये। इसलिए जहाँ ज्ञाता... ज्ञाता हो गया, उसे भव अल्प ही होते हैं, उसे भव विशेष नहीं होते। समझ में आया?

.... भव के ऊपर दृष्टि है? भव को देखनेवाला, भव का देखनेवाला, ज्ञानस्वरूपी था। चौरासी (लाख योनि में) अवतार के—भव के देखनेवाले केवलज्ञानी, केवलदर्शनी थे। ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन का जिसे अन्दर में भान और भास और प्रतिबुद्ध अन्तर में हुआ, उसे अनन्त परपदार्थ की ममता टली, स्वभाव की एकाग्रता हुई। उसे भव विशेष नहीं होते। भगवान ने उसके अधिक भव देखे, (ऐसा) नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? इसमें सर्व प्रयत्न का आया है न? प्रयत्न तो तुम्हारे कोशिश में, कोशिश करना तो रहती नहीं। भाई! तब विकार तो होना होगा, वह होगा और सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी होना होगा, तब होगा। क्योंकि क्रमबद्ध में होना होगा, तब होगा। यह सर्व प्रयत्न पूज्यपादस्वामी कहना चाहते हैं, वह कहाँ लागू पड़ता है? सेठिया! ऐसा लोग कहते हैं।

अरे! भगवान! सुन, प्रभु! तुझे (निज) भगवान का माहात्म्य आता है या भव का माहात्म्य है? (निज) भगवान का माहात्म्य है या भव का माहात्म्य है? तुझे (निज) भगवान का माहात्म्य है या विकार का माहात्म्य है? तुझे भगवान स्वभाव के प्रति की एकाग्रता है या विकार और भव और पर के प्रति एकाग्रता है? जिसे पर के प्रति एकाग्रता है, उसे पर की ममता है। और स्व की एकाग्रता है, उसे पर की ममता नहीं। चाहे जो हो, मुझसे नहीं होता। समझ में आया?

धर्म के समझनेवाले भी समझे तो मुझसे नहीं समझते। उनकी योग्यता से समझते हैं। एकदम अनन्त परपदार्थ की ममता छूटी और निर्मम हुआ। वह कहता है कि मैं इसे कर दूँ, मैं इसे मना दूँ, मैं ऐसा कर दूँ, मैं ऐसा कर दूँ, धर्म को घटा दूँ, ममता ऐसी, उसे छोड़ दूँ, वह तो सब दृष्टि ममता छोड़ी तो ममता में गयी। आत्मा निर्ममस्वरूप ज्ञानानन्द है, उसके प्रयत्न में ममतावाला जो बँधता है, वही निर्ममत्व प्रयत्नवाला छूट जाता है। लो! बहुत संक्षिप्त। कहो, वाडीभाई! यह सब शोर मचाते हैं। तुम सब हाँ करते हो परन्तु वे सब कहते हैं, ऐसा होता है, ऐसा होता है।

यह प्रश्न तो भाई! हमारे सम्प्रदाय में (संवत्) १९७२ के वर्ष में उठा था। समझ में आता है न? हमारे गुरु थे, यह तो बेचारे को ऐसा हो गया कि अर..र..! केवलज्ञानी ने भव देखे हैं तो भव बदले नहीं। इसलिए भगवान ने भव देखे नहीं। क्यों? ऐसे भद्रिक, परन्तु उन्हें ऐसा कि पुरुषार्थ रहता नहीं, ऐसा हो गया। परन्तु सुनी हुई बात नहीं। और साथ में जो थे मूलचन्दजी, वे कहे—नहीं, भगवान ने भव देखे, तब टलेंगे। अभी नहीं टलेंगे। यह भाषा किसकी? यह आगमभाषा होती नहीं, ऐसी शास्त्रभाषा होती नहीं। वीतराग ऐसा कभी बोलते नहीं। वीतराग बोले कि परपदार्थ से हटकर, और हमारे स्वपदार्थ में आये, तब हमारी मुक्ति हुई है। परपदार्थ की उपेक्षा और स्व की अपेक्षा। ऐसी वाणी में आवे परपदार्थ की उपेक्षा और स्व की अपेक्षा, (ऐसा) करनेवाले को भगवान ने उसके अनन्त भव देखे ही नहीं होते। सेठी! परन्तु बहुत सूक्ष्म बात।

देखो! **हर तरफ से...** ऐसा है न? टीका में होगा या नहीं इसका शब्द? इसका शब्दार्थ। सर्व प्रयत्न निर्ममत्वं। **इसलिए हर तरह से पूरी कोशिश के साथ निर्ममता का ही ख्याल रखे।** अरे! मैं तो आत्मा हूँ, जानने-देखनेवाला हूँ। '**अेगो अहं**' मेरा कोई है नहीं। सब संयोगी पदार्थ और पुण्य-पाप संयोगीभाव। भाव मेरा एकरूप स्वभावी है, ऐसी अन्तर एकाग्रता करके पर का ममत्व न करे, वह निर्मम हो, उसकी मुक्ति होती है। राग आवे, उसकी ममता करे, निमित्त की ममता करे, वह तो बँधता है। निमित्त की ममता करे कि ऐसे निमित्त मिलाना, राग की ममता करे कि ऐसा राग लाऊँ और टालूँ। वह तो ममता हुई। उसे समता नहीं है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा क्या करे? समझ में आया? यह जानने का

काम करे, यह जानने का सम्बन्ध ज्ञान के साथ करे, यह जानने का सम्बन्ध पर के साथ सम्बन्ध करके जानता है, ऐसा नहीं है। संक्षेप में शिष्य ने पूछा, ऐसा जवाब संक्षेप में कहा।

अव्ययों को अनेक अर्थ होते हैं, इसलिए, 'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है। अभिप्राय। **इसलिए 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है।** यह तो अभिप्राय की बात ली। विपरीत अभिप्राय। ममता का अर्थ ही विपरीत अभिनिवेश। तत्त्वार्थश्रद्धान में आता है न? विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धा, वह तत्त्वार्थश्रद्धान है। यहाँ ममता का अर्थ कि जो चीज़ इसकी नहीं, उसमें विपरीतता का भाव करना कि यह मेरे हैं, ऐसे अभिनिवेश—आग्रह को मिथ्यात्वभाव कहते हैं, और उससे जीव बँधता है।

'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है। उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि मैं इसका हूँ। इतना कहा कि **'मेरा यह है'...** यह तो पाठ में है। परन्तु **'मैं इसका हूँ।'** मैं कर्म का हूँ, शरीर का हूँ, देश का हूँ, परिवार का हूँ, यह मान्यता विपरीत अभिनिवेश मिथ्यादृष्टि की है। इस मिथ्यादृष्टि के भाव को ही यहाँ मम कहा है। उसे ही ममकार कहा है। समझ में आया? **'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है,...** व्यवहार से। शरीर, कर्मादि मेरे हैं, देश-कुटुम्ब मेरे हैं, कमाना-कमाना, नौकर-चाकर, पत्नी-स्त्री मेरी और मैं उसका हूँ—यह विपरीत अभिनिवेश संसार परिभ्रमण का—दुःख का कारण है। कहो, समझ में आया? **ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है।** बन्ध अधिकार है न? बन्ध अधिकार की पहली गाथा, हों!

कहते हैं कि **न तो कर्मस्कन्धों से भरा हुआ यह जगत बन्ध का कारण है,...** कर्म के स्कन्धों से भरपूर यह जगत आत्मा को बन्धन का कारण नहीं। वे कर्म पड़े हैं, वह बन्धन का कारण नहीं। कर्म के रजकण होने की योग्यता है, न वर्गणा? वह कहीं बन्धन का कारण नहीं है। **और न हलन-चलनादिरूप क्रिया ही,...** यह हिलने-चलने की जड़ की क्रिया, यह कहीं आत्मा को बन्धन का कारण नहीं है। यह इन्द्रियाँ बन्ध का कारण नहीं है। जड़ इन्द्रिय, वह भी बन्ध का कारण नहीं है।

और न चेतन-अचेतन पदार्थों का विनाश करना ही बन्ध का कारण है। दूसरे जीव मरे या दूसरे जड़ के टुकड़े हों, चेतन-अचेतन पदार्थ का विनाश करने की क्रिया हो, वह भी आत्मा को बन्धन का कारण नहीं है। एकेन्द्रिय, हरितकाय आदि पंचेन्द्रिय का वध हो, वह आत्मा को बन्ध का कारण नहीं है। ओहोहो! वह आत्मा को बन्ध का कारण नहीं है।...भाई! हरितकाय घात हो और पंचेन्द्रिय मरे, वह बन्ध का कारण नहीं है। ऐसा कहते हैं। वह नहीं है। (इसका) परपदार्थ है। वह पर की क्रिया तू कर सकता ही नहीं। पर में जितना उपयोग एकाकार हुआ ममता का, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया?

किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। आत्मा के ज्ञान व्यापार में इन पदार्थ में जोड़ दिया पर में और राग के साथ एकत्व किया, पुण्य परिणाम के साथ उपयोग को एकत्व किया, वह एक ही बन्धन का कारण है। परपदार्थ की कोई क्रिया ज्ञानी को या अज्ञानी को बन्ध का कारण नहीं है। दृष्टान्त आता है न? बहुत अधिक आता है। ताड़ (आदि) वृक्ष को काटता है न! सचेत-अचेत वस्तु को काटता है। ज्ञानी समकिती सचेत-अचेत को भोगता है, वह बन्ध का कारण नहीं है। भोगता ही नहीं। यह तो दुनिया देखती है, इसलिए बताते हैं। ज्ञानी परपदार्थ को अनुभवता नहीं। दुनिया देखे। देखो, इसकी रानी, देखो इसके व्यापार, देखो इसके धन्धा, देखो इसके हलन-चलन की क्रिया, इसके पैर से जीव मर गया, घर में पकाने की क्रिया से... देखो! यह हुक्म करे तो पकाना होता होगा या नहीं? यह हुक्म भी आत्मा नहीं, पकाने की क्रिया आत्मा नहीं। यह आत्मा के ज्ञान का व्यापार, उसमें राग और एकत्वबुद्धि करे, राग से एकत्वबुद्धि करे, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया?

उपयोगरूपी भूमि में रागादिकों के साथ... ऐसा वापस। पर के साथ नहीं किया। इसकी पर्याय में पुण्य-पाप के भाव और विकल्प जो उठे, उन्हें आत्मा के ज्ञान-व्यापार के साथ जो पुण्य-पाप की वृत्तियों को एकाकार करे **सिर्फ वही... एकता को प्राप्त होती है...** इसका अर्थ क्या? वह कहीं कर्म नहीं कराता। यह तो भ्रान्ति स्वयं करता है। ज्ञान के उपयोग में जानने-देखने के व्यापार में पुण्य-पाप की वृत्तियों को एकरूप करके जो पृथक् होना चाहिए, उसके बदले एकरूप करता है। **सिर्फ (एक) वही अर्थात् जीवों का**

रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। वही आत्मा को बन्ध का कारण है। कोई क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। शरीर की क्रिया नहीं। इसलिए शोर मचाते हैं न ? तब बाधा नहीं, शरीर से करो सब अब। परन्तु कर सकता नहीं, फिर करने का प्रश्न (कहाँ आया) ? अँगुली चले या न चले, पैर चले, न चले (यह) आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। इसके लिये तो यह श्लोक आधार में रखा है।

सचेतन-अचेतन पदार्थ का नाश करना, वह भी आत्मा को बन्ध का कारण नहीं है। नाश करना वह भी बोलते हैं। नाश कर नहीं सकता। भाषा तो ऐसी ही आवे न। मात्र ज्ञान प्रभु चैतन्य भगवान अपने जानन व्यापार में उस राग को पुण्य और पाप की चिकनाई की एकताबुद्धि करे, ऐसा ममत्वभाव—यह मिथ्यात्वभाव—यह विपरीत अभिनिवेश, वह संसार के बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया ?

यदि वही जीव निर्मम-रागादि रहित-उपयोगवाला हो जाये, तो कर्मों से छूट जाता है। वही ज्ञान उपयोग में अपने स्वभाव-सन्मुख झुकाकर, राग और पुण्य से पृथक् करके ज्ञान के व्यापार में राग और पुण्य की एकता न करे और स्वभाव की एकता करे, वह निर्ममत्व आत्मा बन्ध से छूट जाता है। बन्ध से छूटना और छूटने का रास्ता यह है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। स्त्री, पुत्र छोड़कर जंगल में चला जाये, अकेले बैठो, कोई सामने देखे नहीं, ऐसे एकान्त वृक्ष के तले, उसे धर्म होगा। ऐसा धर्म है नहीं। वह सब क्रिया जड़ की क्रिया काल में स्वयं को जो राग के काल में जो राग हुआ, उसके राग और ज्ञान की एकता की, वही संसार और बन्ध का कारण है। वे क्रियायें कहीं बन्धन का कारण नहीं है। कहो, समझ में आया ?

जीव निर्मम-रागादि रहित-उपयोगवाला हो जाये,... अपने ज्ञानस्वभाव में लीन हो जाये। क्रिया तो शरीर आदि की बाह्य पदार्थ की होनेवाली है, वह हुआ करती है। उनके कारण आत्मा को बन्धन या छूटना है नहीं। उपयोग में ममता परपदार्थ की करे और उपयोग में स्वभाव की दृढ़ता करे, वह पहला भाव बन्धन का और दूसरा भाव छूटने का, दूसरा कोई उपाय और रास्ता नहीं है।

कहा भी है कि—'अकिंचनोऽहं।' 'मैं अकिंचन हूँ।' 'मैं अकिंचन हूँ।' 'अ'

अर्थात् नहीं कुछ मेरा। देखो! यह भाव। जगत में मेरा कुछ नहीं। शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप के विकल्प-वृत्तियाँ, देश-कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु-शास्त्र, पहाड़-पर्वत और बाहर के वन। अकिंचन—मेरा कुछ नहीं। **मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोक के स्वामी हो जाओ।** ठीक! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप में कोई भी राग और पुण्य तथा मन-वाणी-देह परपदार्थ कोई मेरे नहीं हैं। मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ ऐसा अन्तर में बैठे रहो, मोक्ष हो जायेगा। तीन लोक का स्वामी केवलज्ञानी हो जायेगा। बहुत संक्षिप्त बात, भाई! **और तीन लोक के स्वामी हो जाओ। यह तुम्हें बड़े योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।** लो! कहते हैं, तुम्हें कैसा रहस्य बताया? बड़े-बड़े महामुनि धर्मात्मा गणधरों के द्वारा जो जाना हुआ, **जाने जा सकने लायक...** जानने में आवे ऐसा। यह **परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।** संक्षिप्त में एक समय में भगवान ज्ञानानन्द है, उसमें एकाग्र होकर बैठ जा, मुक्ति होकर केवल(ज्ञान) होगा। दूसरा उपाय नहीं है।

एक राग का विकल्प, मन, वाणी, देश, परदेश मेरा और मैं उनसे, ऐसी ममता। बैठा रह इसमें तो निगोद में जायेगा। कहो, समझ में आया? यह दृष्टि बदलने से दौलत मिले, ऐसी है। ऐसा कहते हैं। दृष्टि पुण्य और पाप और संयोग की क्रिया मुझसे है और मैं उसका हूँ, यही संसार है। दृष्टि ने दौलत देखी (कि) ज्ञानानन्दस्वभाव मेरी सम्पत्ति है, ऐसी दृष्टि हुई (तो) बैठा रह उसमें। बैठा रह अर्थात् स्थिर हो जा। स्थिर हो जा, केवलज्ञान हो जाये। सेठी!

श्रीमद् के समय में एक सेठ हुए। श्रीमद् राजचन्द्र के समय में। नाम तो सुना होगा। फिर उन्होंने कहा... सेठिया हाथ में बीड़ी पीता था। बीड़ी पीता था। श्रीमद् ऐसे बैठे हुए गादी-तकिये से। कहे, साहेब! मुक्ति कैसे होगी? हाथ में बीड़ी और पीते-पीते (पूछा), साहेब! मुक्ति कैसे होगी? इसलिए कहा, यह ऐसे के ऐसे। ऐसे के ऐसे। ऐसे के ऐसे के दो अर्थ होते हैं। तेरे मुक्ति के पूछने के ढंग तो देख। हाथ में बीड़ी, पीछे... समझे न? तकिया। और (पूछा), साहेब! मुक्ति कैसे होगी? ऐसे के ऐसे। दूसरे प्रकार से कहें तो यह जैसा है, वैसा स्थिर हो जा ज्ञान में तो मुक्ति होगी। बाकी मुक्ति-बुक्ति दूसरे रास्ते से नहीं।

भाई! यह दामनगर के केशवलाल सेठ थे। जेठालाल के भाई! वे वहाँ गये, ऐसा पूछा। ऐसा तुरन्त ही जवाब कहा साथ में। साहेब! मुक्ति कैसे होगी? मुझे मोक्ष कैसे (होगा)? ऐसे के ऐसे। उसके दो अर्थ। ऐसी ममता और खड़ा है, इस प्रकार (और करे) मोक्ष के प्रश्न तथा दूसरे प्रकार से ऐसे के ऐसे स्थिर हो जा। तेरा स्वभाव है, उसमें स्थिर हो जा तो मुक्ति होगी। बाकी करने का यह किया और वह किया और यह किया और देह को हिलाया, यह सब क्रियायें जाननेयोग्य हैं। आदरनेयोग्य नहीं है।

यहाँ तो आचार्य कहना चाहते हैं, **यह तुम्हें बड़े योगियों के...** महा-महा मुनियों द्वारा जो रहस्य था, वह रहस्य तुम्हें कह दिया है। संक्षिप्त में। उस श्लोक में आया है न इसलिए। एक ओर प्रभु आत्मा तथा एक ओर पुण्य-पाप, विकार, शरीर, वाणी, मन, कर्म और शरीर—देह सब। इस आत्मा के प्रति की एकाग्रता, वह निर्मम दशा, वह मुक्ति का कारण है। और इसके अतिरिक्त का राग पुण्य का उठे, वह मेरा और वह बन्धन और संसार का कारण है। चौरासी के अवतार के बीज—पर में एकाकार। आत्मा के स्वभाव में एकाकार, ज्ञानमूर्ति पवित्र आत्मा में एकाग्रता, विशेष एकाग्रता (होवे) तो केवलज्ञान, कम एकाग्रता तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (हो)। परन्तु उसके ओर की पर से ममता (छोड़कर) एक स्व में स्थिरता (हो) वही मुक्ति का उपाय है। दूसरा कोई उपाय है नहीं। ओहोहो! परन्तु तेरे चौदह पूर्व और बारह अंग के लेखन! इतना सब लेखन किया। बारह अंग में ऐसा, चौदह पूर्व में ऐसा, ऐसे प्रायश्चित लेना, उसमें ऐसा करना, उसमें ऐसा करना, ऐसे कथन बहुत आते हैं, लो। यह यात्रा करना, मुनि को भी यात्रा होती है। लो! ऐसा आता है। आहारकशरीर करते हैं तब। आता है न? गोम्मटसार में। कोई यात्रा के लिये भी आहारकशरीर करते हैं। कोई प्रायश्चित्त के लिये या कोई विनय के लिये। ऐसा कुछ आता है। गुरु जहाँ हों, वहाँ सेवा करने जायें। इसके लिये शरीर बने और ऐसा करे और ऐसा करे। भाई! उस समय का विकल्प और उस समय की क्रिया का ज्ञान कराया है। बाकी धर्मात्मा का झुकाव स्वभावसन्मुख है, वह एक ही मुक्ति का कारण है। बाकी बीच में ऐसा राग आवे और उस प्रकार की अवस्था यथायोग्य हो, उसे बतलानेयोग्य है, उसे बतलाया है परन्तु उस बाह्य की क्रिया से मुक्ति को कुछ मदद मिले और सहायता हो, ऐसा स्वभाव के वास्तविक पदार्थ में नहीं है। ऐसा परमात्मा को पहुँचने का रहस्य यह है। कहा न ऊपर?

बड़े योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक... जाना जा सकनेयोग्य ऐसा **परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।** ऐसा तेरा परमात्मा अन्तर स्वरूप है, उसकी अन्तर श्रद्धा, उसका अन्तर ज्ञान और अन्तर रमणता, वह निर्मम स्वभाव एक ही चौदह पूर्व और बारह अंग का निर्ममत्व, वह मोक्ष का साधन है। वापस निर्ममत्व की बात तो करे, परन्तु वापस यह हम छोड़ते हैं और यह हम छोड़ते हैं तो हमारी मुक्ति है। और वापस लप डाले। और निर्मम तथा और यह मैंने छोड़ा आया कहाँ से इसमें? निर्मम का अर्थ ही पहले समय में ऐसा निर्णय हो गया (कि) अकिंचन—मेरा राग और कोई पदार्थ मुझमें है ही नहीं। वह मुझमें है नहीं, उसे लाना-टालना अथवा जुटाना या छोड़ना वह मुझमें है ही नहीं। मेरा स्वभाव पूर्ण ज्ञान और आनन्द से भरपूर है। उसमें एकाग्र होना, वही मेरी क्रिया है और उसे निर्ममत्व कहा जाता है। यह **परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।** लो! परमात्मा का यह रहस्य है। सेठी!

'रागी बध्नाति कर्माणि' रागी जीव कर्मों को बाँधता है। लो! रागी का अर्थ वापस यह दुनिया कहे, ऐसा नहीं। एकता—परपदार्थ मेरा, उनका कर सकता हूँ और अन्दर में राग आवे वह मेरा, ऐसा रागी कर्म से बँधता है, ऐसा कहते हैं। रागी बँधता है इसलिए अपन राग छोड़ने लगो, राग घटाने लगो। किस प्रकार घटे? रागी का अर्थ पुण्य और पाप के ज्ञान के व्यापार में एकताबुद्धि, उसे रागी कहते हैं। पुण्य-पाप के भाव में ज्ञानभाव की एकताबुद्धि उसे रागी कहते हैं। वह रागी कर्म से बँधता है। पर के साथ तो एकता कहाँ कर सके? माने तो (परन्तु) कुछ कर सकता है? और इसमें तो माने तो मान्यता में कर सकता है कि यह पुण्य-पाप की वृत्तियाँ कृत्रिम, अनित्य, उपाधि मेरी है, ऐसी एकताबुद्धि हुई, वही संसार और राग बन्धन का कारण है।

रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। राग-द्वेष आदि रहित अर्थात? वापस रहित का अर्थ मैं पृथक् करूँ, ऐसा नहीं। ऐसा कहे कि राग-द्वेष पृथक् करो, बापू! यह एक मोक्ष का उपाय है। यह तो वह का वह आया। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें राग ही नहीं और विकार नहीं, ऐसा दृष्टि में एकाग्र होकर स्थिर होना, वह **रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है।** इस राग को पृथक् करूँ, इस राग को पृथक् करूँ। क्या करे? इस

राग को आत्मा पृथक् करे, वहाँ विकल्प उठता है। वही विकल्प है, वही राग है। ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : कोरा...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कोरा रह सकता है। कहते हैं, देखो न पत्ते ऐसे होते हैं या नहीं? कमल के पत्ते पानी में रहे होने पर भी कहीं स्पर्शते (नहीं) और छूते (नहीं)। पत्ता ऊँचा किया तो एकदम कोरा। ऐसा आत्मा ज्ञानस्वभावी निर्लेप, उसे पुण्य-पाप के साथ एकत्वबुद्धि करना—ममता, उसे स्वभाव के साथ एकता करने से राग की ममता छूटी, इसका नाम मुक्ति। दूसरा कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल–शरीरादिक रूपी मूर्तद्रव्य के साथ जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीव का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं, तथा मरणादि सम्बन्धी बाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे? यह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि–

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।२९।।

मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक।।२९।।

अर्थ – मेरी मृत्यु नहीं, तब डर किसका? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ। ये सब बातें (दशाएं) पुद्गल में ही पायी जाती हैं।

विशदार्थ – 'एकोहं निर्ममः शुद्धः' इत्यादिरूप से जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों? अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी? उसी तरह मैं बाल–वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ। तब बाल–वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों–क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ? अच्छा, यदि मृत्यु वगैरह आत्मा में नहीं होते, तो किसमें होते हैं? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्गले' ये मृत्यु–व्याधि और बाल–वृद्ध आदि दशाएँ पुद्गल–मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं। कारण कि ये सब मूर्तिमान पदार्थों के धर्म हैं। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं।

तथा वह इस प्रकार विचारता है :—

पुद्गल (शरीरादि मूर्तद्रव्य) के साथ वास्तव में (जीव का) संयोग है। इसकी

अपेक्षावाले मरणादि और उनके दु:ख, किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं ? पुद्गल के साथ, अर्थात् शरीर के साथ-मूर्तद्रव्य के साथ जीव का सम्बन्ध, आगम में सुनने में आता है। उसके कारण, अर्थात् पुद्गल के संयोगनिमित्त से जीव को मरणादि, अर्थात् मरण-रोगादि सम्भवते हैं। उसको जैसे मरणादि सम्भवते हैं, वैसे मरणादि सम्बन्धी बाधाएँ (दु:ख) भी सम्भवते हैं, तो किस प्रकार, किस तरह की भावना से मुझे उन दु:खादि को परिहरना ? अर्थात्, उनका आक्रमण किस प्रकार निवारण किया जा सके ? ऐसा अर्थ है।

स्वयं ही उसका समाधान करता है :—

किसका भय जब अमर मैं, व्याधि बिना क्या पीड़ ?।
बाल-वृद्ध-यौवन नहीं, यह पुद्गल की भीड़॥ २९॥

अन्वयार्थ :- **(मे मृत्युः न)** मेरा मरण नहीं, तो **(कुतः भीतिः)** डर किसका ? **(मे व्याधिः न)** मुझे व्याधि नहीं तो **(व्यथा कुतः)** पीड़ा कैसी ? **(अहं न बालः)** मैं बालक नहीं, **(अहं न वृद्धः)** मैं वृद्ध नहीं, **(अहं न युवा)** मैं युवक नहीं, **(एतानि)** ये (सर्व अवस्थाएँ) **(पुद्गले सन्ति)** पुद्गल की हैं।

टीका :- '**एकोऽहं**' इत्यादि से जिसका आत्मस्वरूप निश्चित हुआ है — ऐसे मुझे मरण, अर्थात् प्राणत्याग नहीं है, कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी त्याग (नाश) नहीं होता, क्योंकि मेरा मरण नहीं है; इसलिए मरण के कारणभूत काला नाग आदि का भय-भीति मुझे कहाँ से हो ? अर्थात्, मैं किसी से भयभीत नहीं — ऐसा अर्थ है। तथा व्याधि, अर्थात् वातादि दोष की विषमता मुझे नहीं है, क्योंकि वातादि का सम्बन्ध मूर्तपदार्थों के साथ है; इसलिए ज्वरादि विकारों से मुझे व्यथा-पीड़ा कैसे होगी ? तथा मैं बालादि अवस्थाओंवाला नहीं; इसलिए बालादि अवस्थाओं से उत्पन्न होनेवाले दु:खों से मैं किस प्रकार घिरूँ ? (किस प्रकार दु:खी होऊँ ?) — ऐसा सामर्थ्य से यहाँ समझना।

पूछता है कि तब मृत्यु आदि किसमें होती हैं ? ये मृत्यु, व्याधि, बालादि (अवस्थाएँ) पुद्गल में, अर्थात् मूर्त शरीरादि में ही सम्भवती हैं, क्योंकि वे मूर्तपदार्थों का धर्म होने से, अमूर्त ऐसे मुझमें उनका होना बिल्कुल सम्भव नहीं है॥२९॥

भावार्थ :- *जिस जीव को अपने चिदानन्दस्वरूप का निश्चयहो गया है, उसको*

(सम्यग्दृष्टि को) द्रव्यप्राण के त्यागरूप मरण का भय नहीं होता, क्योंकि वह निःशङ्क है कि शरीर का (पर्यायदृष्टि से) नाश होता है, परन्तु चित्शक्ति-लक्षणात्मक ज्ञान-दर्शनरूपभावप्राण का कभी भी नाश नहीं होता। उसको मरण का भय नहीं तो मरण के कारणभूत काले सर्पादिक का भय कहाँ से होगा? होगा ही नहीं।

तथा उसको वात-पित्त-कफ की विषमता से (असमानता से) उत्पन्न होनेवाली व्याधियों का भय भी नहीं होता, क्योंकि वहजानता है कि उनका सम्बन्ध मूर्तपदार्थ (शरीरादि) के साथ है; आत्मा के साथ नहीं; इसलिए उसको ज्वरादि की पीड़ा कैसे हो? होती ही नहीं।

तथा बाल-वृद्धादि अवस्थाएँ पुद्गल की हैं; आत्मा की नहीं; इसलिए उन अवस्थाओं से उत्पन्न होनेवाले दुःखों का वेदन भी उसे कैसे हो? होता ही नहीं।

मृत्यु-व्याधि और बाल-वृद्धादि अवस्थाएँ पुद्गल-मूर्त शरीरादि में ही हो सकती हैं क्योंकि वे सब मूर्तिमान धर्म हैं; जीव तो अमूर्तिक-चेतन है, उसमें वे धर्म कभी भी नहीं हो सकते।

असोज शुक्ल ५, सोमवार ०८-१०-१९५६, गाथा - २९ से ३१, प्रवचन - ५

२९वीं गाथा का अन्तिम थोड़ा भाग है। कहते हैं कि यह शरीर आदि की मृत्यु जो दिखती है, वह कहीं मेरी मृत्यु नहीं। धर्मी ने अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप और नित्यानन्द स्वरूप रूप से श्रद्धा-ज्ञान में लिया है। यह (शरीर) जड़ है। मेरे और उसके कोई सम्बन्ध नहीं है। '**मरण रोग मोमें नहीं,**' मरण और रोग मेरे आत्मा में है नहीं। '**तातें सदा निशंक**' मैं तो निःशंक हूँ। देह छूटे तो मुझे मरण होगा, यह रोग हो तो मुझे दुःख होगा, यह मेरे आत्मा में है नहीं। '**बाल तरुण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक**' अंक—अंक। यह सब पुद्गल के लक्षण है। युवापना, वृद्धपना, बालकपना, यह पुद्गल-जड़ का लक्षण; मेरा लक्षण नहीं। मैं तो ज्ञानलक्षण से लक्षित आत्मा हो सकूँ, ऐसी ताकतवाला हूँ। ऐसा धर्मी जीव अपने आत्मा को पर के लक्षण से लक्षित न मानकर ज्ञानलक्षण से लक्षित जाननेवाला मानता हूँ। और पर के सब लक्षण जड़ का हिलना, चलना, बोलना, वह मेरी क्रिया नहीं।

वह अंक—लक्षण तो जड़ के हैं। यह २९ गाथा का पूरा किया।

देखो! यह भेदज्ञान की बात चलती है। भेदज्ञान अर्थात् शरीर में कुछ होने पर मुझे कुछ होता है, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। और अज्ञानी शरीर में कुछ मृत्यु रोगादि होने पर मुझे होता है, वह अज्ञानी को पर के साथ एकत्वबुद्धिवाला है। अरे! शरीर के काम इतने हुए, अभी इतने बाकी रहे, मुझे करने थे, हों! परन्तु अरे! वृद्धावस्था आ गयी। मूढ़ मिथ्यादृष्टि शरीर की अवस्था से काम करता (हूँ), ऐसा मानता था और अभी नहीं होते, इसलिए इच्छा करता है। वह शरीर और आत्मा एक ही माननेवाला। कहो, समझ में आया? सही समय में शरीर अच्छा था, अपवास करने की क्रिया और वे सब तपस्यायें और उस समय में होती थी। अरे रे! अब हमने किया नहीं और शरीर निर्बल पड़ा। ऐसे अज्ञानी को शरीर के प्रति रुचि है और आत्मा शरीर से भिन्न है, इसका उसे भान नहीं है। और अधिक लेते हैं ३० में।

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे, न सही, परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनायी गयी थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावना के बल से छोड़ दिया है; ऐसी देहादिक वस्तुएँ चिरकाल के अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती हैं, कि 'अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि-

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा?।।३०।।

सब पुद्गल को मोह से, भोग भोगकर त्याग।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग।।३०।।

अर्थ - मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा और छोड़ा। भोग-भोगकर छोड़ दिया। अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या पहचान हो सकती है? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।

विशदार्थ – अविद्या के आवेश के वश से अनादिकाल से ही मुझ संसारी जीव को कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार-बार पहिले भोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर-करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूँठन-उच्छिष्ट भोजन, गन्ध, मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है? नहीं नहीं, हरगिज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो, तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना करनी चाहिए (ऐसा स्वयं को संबोधन करते हैं)।।३०।।

पुनः भावक ही (भावना करनेवाला ही) स्वयं आशङ्का करता है — तब प्राप्त करके छोड़ दी हुईं, वे (शरीरादि) वस्तुएँ पश्चातापकारी बनेंगी, अर्थात् यदि उक्त नीति अनुसार मुझे भयादि न हों तो इन देहादिक वस्तुओं को प्राप्त करके, अर्थात् जन्म से लेकर उन्हें आत्मीयभाव से स्वीकार कर, अब मैंने छोड़ दी, अर्थात् भेदभावना के बल से मैंने त्याग दीं तो वे देहादि वस्तुएँ, चिरकाल के अभ्यस्त अभेद (एकत्वबुद्धि के अभ्यास के) संस्कार के कारण क्या पश्चातापकारी बनेंगी? अर्थात्, अपनी मानी हुईं उन वस्तुओं को मैंने छोड़ दिया, इससे क्या वे (वस्तुएँ) मुझे पश्चातापजनक हो जायेंगी?

यहाँ भावक स्वयं ही प्रतिषेध का विचार करके कहता है — नहीं; ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि :—

पुनः पुनः भोगे सभी, पुद्गल मोहाधीन।
क्या चाहूँ उच्छिष्ट को, मैं ज्ञानी अक्षीण॥ ३०॥

अन्वयार्थ :- (**मोहात्**) मोह से (**सर्वेऽपि**) समस्त (**पुद्गलाः**) पुद्गल (**मुहुः**) बारम्बार (**मया भुक्तोज्झिता**) मैंने भोगे और छोड़ दिये, (**उच्छिष्टेषु इव तेषु**) उच्छिष्ट [वमन] जैसे पदार्थों में (**अद्य**) अब (**मम विज्ञस्य**) मेरे जैसे भेदज्ञानी को (**का स्पृहा**) क्या स्पृहा [चाहना] हो? अर्थात्, मुझे अब इन भोगों की इच्छा नहीं है।

टीका :- मोह से, अर्थात् अविद्या के आवेशवश अनादि काल से मुझ संसारी जीव ने सर्व पुद्गलों को कर्मादिभाव से ग्रहण करके बारम्बार पहले भोगा और फिर

उनको नीरस करके छोड़ दिया। यदि ऐसा है तो स्वयं भोग करके छोड़ दी हुई उच्छिष्ट (वमन) के समान भोजन, गन्ध, मालादि में; जैसे, लोक को भोगकर छोड़ दिये हुए (पदार्थों में); स्पृहा (इच्छा) नहीं होती; इसी प्रकार अब तत्त्वज्ञान से परिणत विज्ञ (ज्ञानी), ऐसे मुझे उस उच्छिष्ट जैसे पुद्गलों में क्या स्पृहा होगी ? कदापि नहीं होगी। वत्स! तू मोक्षार्थी है तो तुझे निर्ममत्व की भावना विशेष करनी चाहिए। (इस प्रकार स्वयं को सम्बोधन करता है) ॥३०॥

भावार्थ :- *ज्ञानी विचारता है कि जैसे कोई भोजनादि पदार्थों को स्वयं भोगकर छोड़ देता है और छोड़ दिये हुए उच्छिष्ट पदार्थों को फिर से भोगना नहीं चाहता; इसी तरह अविद्या के संस्कारवश अनादि काल के अनेक बार भोगकर छोड़ दिए हुए पदार्थों को, अब ज्ञानी होने से, मैं भोगना नहीं चाहता, अर्थात् अब मुझे उन भोगों के प्रति स्पृहा नहीं होती।*

यहाँ आचार्य ने 'मैंने सर्व पुद्गलों को बारम्बर भोगा और छोड़ दिया' — ऐसा जो कहा है, वह व्यवहारनय का कथन है, क्योंकि जो परद्रव्य है, वह न तो ग्रहण किया जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है — ऐसा ही कोई उसका (आत्मा का) प्रायोगिक (परनिमित्त से हुआ) तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) गुण है।[१]

गाथा - ३० पर प्रवचन

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है,... मैं शरीर, वाणी, मन और कर्म से भिन्न हूँ। यह उसे जरा शंका करके, विकल्प करके विशेष ज्ञान करता है। **कि यदि कही हुई नीति के अनुसार...** इस शरीर को मृत्यु है, वह मुझे नहीं; शरीर में रोग है, मुझे नहीं, इसके कारण से मुझे कुछ नहीं होता, ऐसी **नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे, न सही...** भय न हो तो न हो। उसमें कुछ मुझे आपत्ति नहीं है। **परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनायी गयी थी....** जन्म से लेकर यह शरीर मेरा... मेरा... मेरा... अनादि से अभेदरूप

१. **जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।**
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है॥ *(श्री समयसार, गाथा ४०६)*

से स्वीकार किया था। अनादि से शरीर मेरा, वाणी मेरी, देश मेरा, परिवार मेरा—ऐसा अनादि से मैंने परवस्तु को अपनाया था। अर्थात् अपनी माना था।

और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावना के बल से छोड़ दिया है,... जरा बात दूसरी कहते हैं। मैंने भेदज्ञान से, शरीर नहीं, कर्म नहीं, पुण्य-पाप नहीं, परपदार्थ नहीं, मैं तो आत्मा ज्ञान और आनन्द हूँ, ऐसे भेदज्ञान द्वारा मैंने शरीर के प्रति ममता वर्तमान में तो मैंने छोड़ दी है। **ऐसी देहादिक वस्तुऐं...** देह आदि। शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, पैसा **चिरकाल के अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से...** परन्तु मुझे बहुत काल का अभेद संस्कार है और फिर स्फुरित हो आता है कि अरे रे! मैंने यह छोड़ा, अच्छा नहीं किया। ऐसी शंका ज्ञानी को आती है या नहीं? ज्ञानी को ऐसी शंका नहीं आती। भाई! बहुत काल से शरीर को अपना माना, बहुत काल से उसे पोषण किया, पोषण किया। सहायता करके खिलाया, पिलाया, नहलाया, धुलाया। अब इसे पुत्र-पुत्री, कुटुम्ब-परिवार ५०-५० वर्ष तक पालन-पोषण किये, यह मकान भी जिसमें ५०-५०, ६०-६० वर्ष तक रहकर, साफ-सूफ सब कराकर मैंने सब छोड़ा, तो भूतकाल के संस्कार के कारण और इच्छा तो नहीं होती न कि मैंने यह छोड़ा, वह ठीक नहीं? ऐ सेठी?

ऐसी देहादिक वस्तुऐं... स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, मकान, पैसा, इज्जत, कीर्ति मैंने भेदज्ञान से—पर मेरे नहीं, ऐसी दृष्टि से तो मैंने छोड़ दिया है। परन्तु पूर्व काल के बहुत संस्कार और अभेद के कारण मैंने बहुत अपने को पर की वस्तु माना और मैं बहुत अटका और परिभ्रमण किया था, तो ऐसे संस्कार के वश से **पश्चाताप करनेवाली हो सकती है कि अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया?** ऐसी इच्छा और पश्चाताप हो सकता है या नहीं? धर्मी को भूतकाल के पदार्थ पहले अपने माने थे, और उन्हें संस्कार देकर भाव इत्यादि मिथ्यात्व सेवन किये थे। अभी भेदज्ञान द्वारा, वह मेरी चीज़ नहीं। चाहे जैसा हो, मुझे और उसे कुछ है नहीं। परन्तु पूर्व के अभेद संस्कार लेकर वर्तमान में ऐसा नहीं हो जाये कि अर र! यह छोड़ा, वह अच्छा नहीं किया? ऐसा तो कहीं पश्चाताप तो नहीं होगा?—कि नहीं।

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है... भावना करनेवाला

अपने आप प्रतिबोध करके सोचता है—विचारता है। **कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है,...** मुझे भूतकाल का अभेद संस्कार था और अभी मैंने भेदज्ञान किया, इसलिए भूतकाल की चीज़ छोड़ी, उसका मुझे अरमान और पश्चाताप होता है, ऐसा मुझे नहीं हो सकता। यह क्या प्रश्न उठाया, समझ में आया? भाई! भूतकाल में ऐसे शरीर को ऐसा रखा, सुलाया बराबर और स्त्री, पुत्र ऐसे नये ताजा-ताजा वस्त्र दे, नहलावे-धुलावे और ऐसे गरम-गरम दाल-भात बनाकर दे, हलुवा, सेव, बुढ़ापे में सब घर में दे और यह सब चीज़ें आनेवाले अरे! मैंने इन्हें छोड़ दिया। अब मेरा कोई सहायक रहा नहीं। यह मैंने छोड़ दिया और कोई सहायक जगत में रहा नहीं। शरीर की दृष्टि छोड़ी, अब शरीर भी मेरा कहा करे नहीं। अरे रे! यह छोड़ दिया, इसकी अपेक्षा कुछ साथ रखा होता तो मुझे ठीक पड़ता, ऐसा ज्ञानी को पश्चाताप-इच्छा होती है या नहीं? सेठी! यह अपवास नहीं करते? चारों प्रकार के आहार त्याग का उपवास किया, फिर विचार नहीं आता? यह चैत्र महीना, तीव्र धूप और चतुर्विध आहाररूप अपवास कर डाला। त्रिविध किया होता और पानी की छूट रखी होती न, थोड़ी पानी की छूट रखी होती तो पानी की दिक्कत नहीं होती। ऐसी इच्छा तो नहीं होती। यह सब चीज़ मेरी नहीं है, मैं अकेला आत्मा। तो इन किसी के हाथ छोड़े और पूर्व में हाथ से बहुत कार्य थे और उसके कारण ठीक पड़े, परिवार आकर सेवा करे, प्रतिकूल हो तो दवा लावे, डॉक्टर लावे, पैसा खर्च करे, उठाकर मोटर में ऐसा का ऐसा पूरा का पूरा खड़ा ले जाये। चल न सके तो ऐसे डालकर ले जाये। यह मोटर में क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : ऐम्बुलेंस।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐम्बुलेंस में। भाई चल नहीं सकते। बापू! तुम कुछ हिलना नहीं, तुम तुम्हारे पड़े रहो, पाँच कोस, दस कोस ले जाना है। यह सब साधन मैंने छोड़े और मेरे माने थे, उनकी अब अरमान तो नहीं होता न ज्ञानी को? कहो, सेठी! कहते हैं कि नहीं। सुन।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा?।।३०।।

अर्थ - मोह से मैंने समस्त ही पुद्गलों को बार-बार भोगा,... पहली बात यह

याद करते हैं। मैंने मिथ्यात्वभाव में स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, गहने, वस्त्र, शरीर, मकान, सब इज्जत, कीर्ति, बँगला, बाग-बगीचा, फूलझाड़ ऐसे, पुत्र मेरे, पुत्री मेरी, ऐसे सब कहा जानेवाला कुटुम्ब एकत्रित होकर मेरी छाती में ऐसे करके... बापू! तुम न हो तो हमें ठीक नहीं पड़े। तुम हमारे हृदय के हार। ऐसा करके मैंने अनन्त बार भोगे मिथ्यात्वभाव से। **और छोड़ा।** और वर्तमान में मैं भेदज्ञान से छोड़ देता हूँ। समझ में आया? और अनन्त बार भोगे तथा अनन्त बार मैंने अज्ञानभाव से छोड़े भी थे। बराबर है? अनन्त बार ऐसे शरीर आ गये हैं और अनन्त बार पैसे आ गये हैं, अनन्त बार परिवार आ गया, अनन्त बार मकान-बकान ठाठ-बाठ ऐसा कर रखा हो न, वह सब चीज़ें... अरे रे! ऐसी सुविधा की थी। मैंने वर्तमान भेदज्ञान से छोड़ी, परन्तु पूर्व के संस्कार के कारण अरमान तो नहीं आता न? अरे रे! घर में स्त्री थी। वह सेवा करती। यह कहते, हों! रहने दो, तुम्हें त्याग करना है। तुम्हारा शरीर ऐसा काम नहीं करता। इतनी सम्हाल यहाँ की, वैसी वहाँ नहीं होगी। सेठी! अन्त्रवृद्धि चढ़ी हो। यहाँ सब मदद करे, अमुक भाई और अमुक भाई। फिर (कहे), अरे रे! मैंने उतावल से दीक्षा ले ली और मेरी सम्हाल करनेवाले कितने खम्मा... खम्मा... खम्मा (करते थे)। कफ निकले तो हाथ में झेले। हथेली में कफ झेले। ऐसी सेवा करनेवाले। अरे! मैंने मेरे करके माने थे। अज्ञानरूप से मैंने माने थे और अज्ञानरूप से मैंने अनन्त बार छोड़े थे। अब तो भेदज्ञान द्वारा मैंने उन्हें छोड़ा है। कहो, समझ में आया?

भोग भोगकर छोड़ दिया। भोग का अर्थ यहाँ निमित्त से कथन है। परपदार्थ को कहीं आत्मा भोग नहीं सकता। परन्तु परपदार्थ मुझे अनन्त बार संयोग में आये। अनन्त बार स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, सोना, चाँदी के गहने, वस्त्र-बस्त्र, मोटर और ठाठ और यह समझे न? यह बाग और बगीचा और बड़ी घोड़ागाड़ियाँ। कहो, ऐसे अनन्त बार मेरे पास आये। मैंने ममता... ममता... ममता... करके वापस छोड़े। वह चीज़ रही नहीं।

अब जूठन के लिये (मानिन्द)... यह तो जूठन है, यह तो जूठन है। वह चीज़ कहीं मेरी नहीं है। जूठन तो कुत्ता भी नहीं खाता। वमन करे, वमन करे ऐसे। ओहो! उसे मनुष्य खायेगा? वमन की भाँति जूठन के लिये। 'माफक' आया, हों! जूठा है जूठा— वमन। वमन की भाँति **उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना हो सकती है?** मैंने उगलकर

निकाल दिया, उनकी इच्छा मुझे कैसे हो ? ऐसे सम्यग्ज्ञानी परपदार्थ की इच्छा नहीं करता, उसका कारण (क्या) ? कि मैंने जिसे वमन जानकर, जूठन जानकर छोड़ दिया है। उस जूठन को कौन खाये ? अरे ! मारवाड़ में तो वह जूठन-अेंठु होवे, उसे भंगी भी नहीं खाता। नहीं ? हमको जूठन देते हो। नहीं। क्या कहलाता है वह ? पत्तलवाला होता है न। उसमें जूठा-बूठा पड़ा हो तो लाओ भंगी को दें। नहीं। हमको जूठन देते हो। माल ताजा हो तो हमें दो।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव विचार करता है। धर्मी सम्यग्दृष्टि विचार करता है, अरे ! मैं तो अकेला आत्मा ही अनादि का था। अज्ञान में भी अनन्त पदार्थ मेरे पास आये, मैंने भोगकर अनन्त बार छोड़े। यह कहीं नयी चीज़ नहीं है। अनन्त बार लड़के... २५-५०... बड़ा राजा हुआ तो हजारों राजकुमार ऐसे कलैया कुँवर जैसे, इन्द्र के अवतार जैसे। ऐसे लड़के हजारों-हजारों एक-एक मुझे हुए। वे मेरे पुत्र और मैं उनका पिता मान-मानकर मर गये सब। मैंने अनन्त बार उन्हें छोड़ा और अनन्त बार मानकर ग्रहण किया। मकान। पाँच-पाँच लाख, पचास-पचास लाख, करोड़-करोड़, अरबों के विशाल मकान। ऐसे बड़े, ओहोहो ! दिखाव ऐसा ... पचास, सौ वर्ष। इस मकान में से निकलना नहीं सुहावे। अरे ! उसके सब लकड़िया-बकड़िया और उसके क्या कहलाते हैं ? समझ में आया ? ऊपर पॉलिस किया हुआ हो न ? चढ़ने की सीढ़ियाँ। सीढ़ी पॉलिस, लकड़ी पॉलिस, दरवाजा पॉलिस, खिड़कियाँ पॉलिस। अब इस मकान में से निकलना। कहते हैं कि ऐसे अनन्त बार मैंने भोगे और अनन्त बार मैंने छोड़े। उसके और मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह क्रिया मैं नहीं कर सकता। मुझे सुख का कारण नहीं और मुझे वह दुःख का कारण नहीं। यह तो मैंने माना था कि यह सुख का कारण और माना (था कि) प्रतिकूलता है, वह दुःख का कारण। वे चीज़ें अनन्त बार मेरे भोगने में आ गयी है। समझ में आया ?

उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना हो सकती है ? जूठन की चाहना क्या ? आता है न, इसमें नहीं आता ? आत्मसिद्धि में नहीं आता ? 'सकल जगत है ऐंठवत अथवा स्वप्न समान' पश्चात ? 'जे कहिये ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान।' क्या कहा ? 'सकल जगत है ऐंठवत' पूरी दुनिया मुझे तो ऐंठ है—जूठन है। क्योंकि पूरी जगत की सब चीज़ें मेरे पास

अनन्त बार आयी है और अनन्त बार मैंने ममता करके भोगी और ममता करके वापस छूट गयी। अरे! छूट गयी तो ममता, भोगी तो ममता। ऐसे जूठन की मुझे—ज्ञानी को भावना नहीं हो सकती। कहो, समझ में आया? भाई! स्वर्ग की इच्छा होती है या नहीं? ऐसा कहते हैं। मुनि को, ज्ञानी को स्वर्ग की इच्छा होती है या नहीं? कुछ वृत्ति बाकी रहे और स्वर्ग में जाना है। समझ में आया? नहीं। वह अनन्त बार स्वर्ग के देव और देवांगनायें तथा उनके विमान और ऋद्धियाँ अनन्त बार भोगी। समझ में आया? और अनन्त बार मैंने छोड़ दी है। उनके साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है।

आता है न? अन्तिम पद नहीं श्रीमद् में? परमाणु और सर्वार्थसिद्धि 'सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जो।'

रजकण या रिद्धि वैमानिक देव की,
सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जो,
रजकण या रिद्धि वैमानिक देव की,
सबको माना पुद्गल एक स्वभाव जो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब आयेगा?

एक परमाणु से लेकर सर्वार्थसिद्धि के देवों के भव मेरे नहीं... मेरे नहीं। यह भव तो जड़ की पर्याय है। इस जड़ में शरीर और जड़ का भव (मेरा नहीं)। मेरे आत्मा में तो ज्ञानानन्द से मैं भरपूर हूँ। ऐसी अन्तर की दृष्टि में धर्मी को परपदार्थ स्वर्ग में जाना पड़े, कोई वृत्ति बाकी रहे और जाना पड़े, परनतु उस पदार्थ की इच्छा ज्ञानी को नहीं है। कहो, समझ में आया? अज्ञानी को इच्छा मिटती नहीं और ज्ञानी को उस प्रकार की इच्छा होती नहीं।

सर्व दुःख का मूल इच्छा है, यह बात यहाँ करना चाहते हैं। इच्छा ही नहीं न मुझे। इस काल में शरीर ऐसा रहे तो ठीक और काल माता-पिता परिवार ऐसी सुविधा दे तो ठीक, उसके पास पैसे बहुत हैं, मैं त्यागी हो गया। कोई रोगादि आवे तो कुछ मदद मुझे करे, घर में तो करते थे परन्तु अब त्यागी होकर कोई मदद करे, ऐसा कुछ इच्छा, धर्मी कहते हैं कि मुझे तीन काल में नहीं थी। उसके घर में वह परमाणु का होना होगा, वह होगा। उसकी पर्याय में मेरा अधिकार नहीं है।

अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है। दृष्टि के विषय की बात करते हैं, हों! अस्थिरता का जरा राग ज्ञानी को आवे, उसकी यहाँ इच्छा की इच्छा नहीं है। इच्छा की इच्छा नहीं है। परन्तु इच्छा हो, उसकी इच्छा करे तो उसे स्वर्ग की इच्छा और भोग की इच्छा है, वह ज्ञानी को नहीं होती।

अविद्या के आवेश के वश से... अनादि अज्ञान के आवेश के वश में। आवेश अर्थात् उसकी प्रेरणा से, अज्ञान के आवेश की प्रेरणा से **अनादि काल से ही मुझ संसारी जीव ने कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार-बार पहले भोगा,...** लो, यहाँ तो कर्म को भी। आठ कर्म के रजकण भी मेरे पास अनन्त बार आ गये हैं। सातारूप से, असातारूप से, यशकीर्तिरूप से, अपयशकीर्तिरूप से ऐसे रजकण भी अनन्त बार मेरे पास कर्मरूप से आये। मुझे और उन्हें क्या है? वे अनन्त बार रजकण औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, बादरपना, पर्याप्तपना आदि बहुत प्रकार की प्रकृतियोंरूप परमाणु के परिणमन होकर मेरे पास आये और छूट गये। मुझे अनन्त बार ऐसे कर्म आदि **रूप में समस्त पुद्गलों को...** कर्म का रूप, शरीर का रूप, स्त्री का रूप, परिवार का रूप, शत्रु का रूप ऐसे और पैसे, सोना-मोहर आदि, गहने और वस्त्र इन रूप में सब पुद्गल **बार-बार पहले भोगा,...** भोगने का अर्थ जड़ को कहीं आत्मा भोग नहीं सकता। परन्तु भोगने का मैंने भाव किया था, इसलिए भोगे—ऐसा कहने में आता है। मैं तो आत्मा हूँ। मेरा अनुभव और भोग तो मुझमें है। मैं ज्ञान-आनन्द और शुद्ध हूँ। उसका अनुभव करनेवाला, भोगनेवाला मैं परपदार्थ को अज्ञानभाव से जो अनन्त बार भोगा था, अब मुझे उसकी चाहना नहीं है। कहो, समझ में आया?

पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित)... कर्म भी अनन्त बार मेरे पास आ गये हैं। आठ कर्म। उनका अनुभाग बन्ध होकर, रस होकर छूट गये। कर्म के रस बिना होकर छूट गये। आये और गये, आये और गये। तो मुझे साता बँधे तो ठीक, मुझे असाता न बँधे तो ठीक, मुझे स्वर्ग का देह मिले तो ठीक, मुझे महाविदेहक्षेत्र में भगवान के समीप जाऊँ, ऐसी देह मिले तो ठीक, ऐसी भावना ज्ञानी को नहीं होती।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ है भगवान ? भगवान तो यहाँ है। वहाँ भगवान (के पास) जायेगा... परन्तु स्वयं अपने और की दृष्टि और अनुभव नहीं करे, तब तक भगवान करेगा क्या ? क्या भगवान किसी का कुछ कर देता है ? वह तो दृष्टि कहते हैं।

(कर्मत्वादि रहित) कर... अथवा कर्म बँधे हुए, वे छूट गये मुझे अनन्त बार। किसकी ममता करूँ ? और अनन्त बार शरीर ऐसा आया। पुष्ट, रुष्ट, रूपवान सुन्दर। जीव पड़े शरीर में, कीड़े पड़कर शरीर छूट गया। अनन्त बार ऐसे शरीर आये। पुद्गल का प्रवाह उसके क्रम में बदला और मैं तो ज्ञाता-दृष्टा था। परन्तु माना था कि मैंने उसे भोगा और उसका अनुभव किया और मैंने प्राप्त किया तथा मैंने छोड़ा। यह अब मुझमें है नहीं। मैंने प्राप्त भी नहीं किया, छोड़ा भी नहीं और अब फिर न आवे तो मुझे उसकी चाहना और पश्चाताप नहीं है। क्योंकि मैंने भेदज्ञान द्वारा उन्हें भिन्न किया है। कहो, समझ में आया ?

दूसरे प्रकार से कहें तो शरीर, मन, वाणी और सब सरीखा हो न, भले मैंने छोड़ा परन्तु अब शरीर ठीक रहे न तो मुझे साधनरूप से धर्म में तो काम में आवे। कि—नहीं। वह साधन है ही नहीं। कहो, समझ में आया ? यह शरीर-बरीर अनुकूल पड़े तो कुछ कर्म ऐसे बँधे अच्छे और उसके कारण बाहर के अनुकूल साधन मिले और बाहर के साधन भगवान मिले तो अपने को ठीक (आ जाये)। यह इच्छा मुझे नहीं है, धर्मी कहता है। मेरी भावना तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... आनन्द और शुद्ध हूँ, उसकी अन्दर की मेरी भावना है, दूसरी मेरी भावना है नहीं।

(कर्मत्वादि रहित) कर-करके छोड़ दिया। आदि सबमें लेना, हों ! कर्म, शरीर, यह दाल, भात, रोटियाँ, सब्जी खायी और विष्टारूप से छूट गये। स्त्रियाँ भी जवान, विवाह किया, वृद्ध हुई, मर गयी। चक्रवर्ती के पास भी छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं। कितनी ही वृद्ध हो जाये, छूट जाये तो नयी आवे। दीक्षा ले लेवे तो दूसरी नहीं आवे। वह एक ओर चली जाये। ऐसे अनादि काल में अनन्त बार परपदार्थ को मेरा मानकर भोगा था। मैंने छोड़ दिया। उसका स्वरूप उसका, मेरा स्वरूप मेरा। छोड़ने की व्याख्या ऐसी नहीं कि इस शरीर के टुकड़े अलग कर डालना। छोड़ने की ऐसी व्याख्या नहीं कि स्त्री-पुत्र में से भाग कर जाये जंगल में तो छोड़ा कहलाये। ऐसा नहीं है। अन्तर के दृष्टि के भेदज्ञान द्वारा छोड़ा,

वह मैंने अनादि काल से पर की एकताबुद्धि से छोड़ा नहीं था, यह भेदज्ञान द्वारा अब छोड़ देता हूँ। कहो, समझ में आया ?

समस्त पुद्गलों को बार-बार पहिले भोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूठन-उच्छिष्ठ भोजन,... उच्छिष्ठ भोजन और **गन्ध, मालादिकों में...** फूल की माला ऐसी बनायी हो। उसे पसीना स्पर्श करे, गन्ध मारे। सवेरे पहनकर दो घण्टे में गन्ध आयी तो छोड़ दे। सूँघा ही करता होगा ? अच्छा गजरा हो फूल का। हार डाला हो। अरे ! बिगड़ गया, बापू ! यह गन्ध मारता है। छोड़ दो। मैंने ऐसे गन्ध को, अच्छे भोजन को **मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती,...** इस दुर्गन्धित चीज़ को, उच्छिष्ठ को, उल्टी की हुई चीज़ की मनुष्य को इच्छा नहीं होती। उसी प्रकार मुझे परपदार्थ छूट जाये, उसकी इच्छा नहीं होती। आओ, जाओ उसके कारण से यह सब होता है। ऐसा तो ठीक। भाई ! कुछ शरीर होवे न तो शरीर ठीक हो तो यात्रा हो। शरीर अच्छा न हो तो यात्रा नहीं होती। लो ! ऐसी तो ज्ञानी को इच्छा होती होगी या नहीं ? वाडीभाई !

यहाँ तो कहते हैं कि यात्रा का भाव भी जब उसे आनेवाला हो, तब आता है। इसके राग को लाऊँ, ऐसा भाव होता नहीं। तो यह शरीर अच्छा रहे तो मैं ऐसे काम कर सकूँ, ऐसी बुद्धि अज्ञानी की होती है। ज्ञानी की बुद्धि नहीं होती। **उच्छिष्ठ भोजन, गन्ध, मालादिकों में जैसे...** गन्ध माला इत्यादि। शरीर में माँस सड़ जाये, देखो न ! ऐसा लोग नहीं कहते सड़े तब ? अरे रे ! अब (यह) मनुष्य छूट जाये तो अच्छा अब, यह मिट्टी अब मार्ग दे तो अच्छा। गन्ध फैल जाती है, ऐसी गन्ध होती है।

कहा था न एक बार। एक गाँव में गये थे। एक रात्रि में मरने का। शरीर गन्ध मारे। गधा सड़ा हुआ हो ऐसी गन्ध मारे। यह शरीर। स्त्री ने कहा कि यह महाराज आये हैं, सवेरे तो उठ जायेंगे। तुम नियम ले लो। कहे, आज नहीं, कल बात। और ऐसे खाट के पास खड़ा था। सब सड़ गया था। वह दवा करे परन्तु यह मिटने का न हो, वह तीन काल में नहीं मिटता। उसके कारण जो सड़ी हुई अवस्था... स्त्री ने कहा... अवस्था हो गयी, लड़के घर में। ऐसे तो एक दिन रहने के छोटे गाँव में। दूसरे दिन तो सवेरे जानेवाले हैं। कहे, आज

नहीं। आज कुछ वार ऐसा है। रात में मर गया। रात्रि में जहाँ हम सो रहे थे, वहाँ पुकार सुनी कि अमुक भाई मर गया। ऐसा सब नाम-ठाम जानते हैं। कहने का नहीं होता। समझ में आया? अमुकभाई मर गये। ममता... ममता। अरे! परनतु ऐसे सड़े हुए शरीर अनन्त बार आये और मक्खन जैसे ऐसे रूपवान लगते हैं, वे सड़ गये अनेक बार। तेरा स्वरूप है नहीं, उसमें सुख है नहीं। उसमें दुःख भी नहीं और सुख भी नहीं। प्रतिकूलता में कल्पना से दुःख मानते हो, अनुकूलता में कल्पना से सुख माने, यह सब भ्रमणा है। ज्ञानी विचारता है कि **जूठन-उच्छिष्ठ...** अर्थात् जूठा। और **गन्ध, मालादिकों में...** भोग कर छोड़ देता है। **लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती,...** अरे! उस बड़ी केल के बड़े मण्डप नहीं करते, और फिर केल सूख जाये, फूल डालते हैं, टोकरे के टोकरे और जहाँ गन्ध मारे (तो) डाल दो, डाल दो करते हैं या नहीं? फूल के टोकरे के टोकरे डाल दे। जो सुगन्ध के लिये लाये थे, वह दुर्गन्ध हुई तो डाल दे। ऐसे सब पदार्थ। मैं तो एक आत्मा। मेरा देश भी नहीं, परिवार भी नहीं, शरीर भी नहीं, कर्म भी बँधे हुए आठों ही मेरे नहीं कि जिससे मैं इच्छा करूँ कि ऐसा कर्म होवे तो और ऐसा शरीर होवे तो अच्छा, ऐसी कल्पना ज्ञानी को नहीं होती।

उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी... उस समय तत्त्वज्ञान से खास **मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे...** नाक-नाक। नाक की छींक आती है न। क्या कहते हैं उसे? तुम्हारी भाषा आ गयी? छिनकी हुई नाक। नाक की लार। रेंट... रेंट... करके निकाल डाली हो, वह फिर से नाक में चढ़ाता होगा? ऐसा तो भले प्रकार निकला हो उसमें। अरे! बड़ा निकल गया। मेरा घट गया यहाँ से। यहाँ से दो-तीन रुपया भार निकल गया। लाओ, ले आऊँ वापस, इस शरीर का भाग घट गया। ऐसा विचार होता होगा? ऐसे धर्मी जीव को... मालचन्दजी! कफ नहीं निकलता? इतना कफ निकले। ऐसा हो जाये। फिर से ले नहीं। अरे! परन्तु इस शरीर का एक भाग निकल गया, मेरा शरीर कम हो गया। अरे! गयी बला। वह कहीं मेरे स्वभाव में है नहीं और मेरे रखने से रहे नहीं और मेरे टालने से टले नहीं। ऐसे अनन्त बार मैंने भोगे परन्तु अभी **तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए...** क्या कहते हैं? मैं तो तत्त्वज्ञान से विशिष्ट मेरी बुद्धि में अन्तर पड़ गया। यह जड़ भिन्न, चैतन्य भिन्न। आस्रव मलिनभाव भिन्न और निर्मल आत्मा भिन्न। आस्रव पुण्य-पाप

के परिणाम हेय हैं। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द वह उपादेय है। शरीर, वह मेरे ज्ञान का ज्ञेय है और निश्चय से मेरे ज्ञान का ज्ञेय तो मेरा आत्मा है। वह व्यवहार जाननेयोग्य है।

ऐसे तत्त्वज्ञान की विशिष्ट बुद्धि से **मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में...** नाक की रेंट निकल जाये, वैसे वे सब पुद्गल मेरी दृष्टि में भेदज्ञान द्वारा छूट गये। अब वे फिर से नहीं लिये जाते। .... ज्ञेय है और निश्चय से मेरे ज्ञान का ज्ञेय तो मेरा आत्मा है। वह तो व्यवहार जाननेयोग्य है। ... दृष्टि में भेदज्ञान द्वारा छूट गये। अब उन्हें फिर से लेने का मुझे मन नहीं होता। कहो, दृष्टान्त भी कैसे दिये हैं ? वह नहीं दिया ? जूठन का और गन्ध आदि का दिया और यह नाक की रेंट। ऐसा ठीक नहीं निकालते ठीक से। ठीक से निकाल ले तो इसे ऐसा हो जाता है कि शरीर का एक अवयव घट गया ? शरीर का एक अंश घटा, ऐसा मानता है ? मेरा आत्मा ज्ञानानन्द और पवित्र है। उसके पर के भेद के ज्ञान में जो वस्तु मैंने छोड़ी, उसे मैंने की और आकांक्षा और मुझे चाहना नहीं होती। छोड़ी इसलिए अरे रे ! अब क्या होगा ? ऐसी इच्छा नहीं है।

पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है ? नहीं नहीं,... नाक की रेंट में जैसे अभिलाषा नहीं, वैसे ज्ञानी को परपदार्थ छोड़े, उनकी अभिलाषा ज्ञानी को नहीं होती। **हरगिज नहीं।** हरगिज नहीं अर्थात् क्या ? बिल्कुल नहीं। बराबर नहीं। **भैया! जबकि तुम मोक्षार्थी हो, तब तुम्हें निर्ममत्व की भावना करनी चाहिए।** लो, अन्तिम योगफल। यदि तू आत्मा को पर से भिन्न करने की भावनावाला हो, पर से भिन्न हो, इस प्रकार भिन्न करने की भावनावाला हो तो पर की ममता छोड़कर निर्ममत्वरूप से आत्मा में एकाग्र होना चाहिए। इसका नाम इष्ट उपदेश और हित का उपाय है। कहो, समझ में आया ?

कथा में ऐसे बहुत ऐसे अधिकार आते हैं। वृद्धावस्था में छोड़ा और बाद में चाहना करे। ऐसा आता है। ऐसा कहे, अरे ! पत्नी कहती थी, पुत्र कहते थे, अब नहीं पालन कर सका, हों ! मैंने माना नहीं। शरीर जीर्ण हुआ, इसलिए उस पत्नी को याद करता है या पुत्र को (स्मरण करता है)। मूर्ख है। उसे संसार में परिभ्रमण के सब लक्षण हैं। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि श्रावक संसार में हो, जिसे पर से भिन्न दृष्टि में किया, उसे अपने लाभदायक (मान) लेने की इच्छा और यह नुकसानकारक है, इसलिए छोड़ने की इच्छा, ऐसी ज्ञानी को नहीं होती। ३०वीं हुई।

सब पुद्गल को मोह से, भोग भोगकर त्याग।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग।।३०।।

यह श्लोक शीतलप्रसाद का है। इसमें नहीं। **'सब पुद्गल को मोह से'** जगत के जितने पुद्गल मेरे आत्मा के अतिरिक्त दूसरे कर्म, शरीरादि की ममता से। **'भोग भोगकर त्याग'** मैंने भोग-भोगकर अनन्त बार (छोड़े हैं)। रूपवान शरीर, मक्खन, जामुन, मैसूख अनेक प्रकार के जगत के पकवान की चीजें खा-खाकर जूठन की, विष्टा करके अनन्त बार (भोगे)। मेरा आत्मा अमृतस्वरूप है। मैंने उसे अनन्त काल में कभी जाना नहीं। वह अब जानने के कारण मैं परपदार्थ की इच्छा नहीं करता। **'मैं ज्ञानी करता नहीं,'** क्या नहीं करता? **'उस उच्छिष्ट में राग।'** उस उच्छिष्ठ में अब मैं प्रीति और रुचि नहीं करता। वे मेरे और मुझे लाभ हो, ऐसी इच्छा नहीं करता।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि वे पुद्गल क्यों बँध जाते हैं? अर्थात् जीव के द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं-

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्व-स्वप्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।।३१।।

कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार।
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार।।३१।।

अर्थ - कर्म, कर्म का हित चाहते हैं। जीव, जीव का हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने-अपने प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता। अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।

विशदार्थ - कभी जीव बलवान होता है तो कभी कर्म बलवान हो जाते हैं। इस तरह जीव और कर्मों का पहिले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। ऐसा कहने से मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान द्रव्यकर्म, अपना यानि द्रव्यकर्म का हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीव में औदयिक आदि भावों को पैदा कर नये द्रव्यकर्मों को

ग्रहण कर अपनी संतान को पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचंद्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा है–

'जीवकृतं परिणामं०' 'परिणममानस्य०'

जीव के द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीव से विभिन्न पुद्गल खुद ब खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणमनेवाले जीव के लिए वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है। तथा कालादि लब्धि से बलवान हुआ जीव अपने हित को अनन्त सुख का कारण होने से उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष को चाहता है। यहाँ पर एक स्वभावोक्ति कही जाती है कि 'अपने–अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को अपनी –अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता?' सभी चाहते हैं।।३१।।

यहाँ शिष्य कहता है कि वे पुद्गल किस प्रकार बँधते हैं ? अर्थात्, जीव द्वारा पुद्गल हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं — किसलिए और किस प्रकार से ?

गुरु कहते हैं :—

जीव, जीव का हित करे; कर्म, कर्म की वृद्धि।
निज-बल सत्ता सब चहें, को न चहे निज रिद्धि॥ ३१॥

अन्वयार्थ :- (**कर्मकर्महिताबन्धि**) कर्म, कर्म का हित चाहता है, (**जीवः जीवहितस्पृहः**) जीव, जीव का हित चाहता है। (**स्व-स्वप्रभाव भूयस्त्वे**) अपना - अपना प्रभाव बढ़ने पर, (**कः वा**) कौन (**स्वार्थं**) अपना स्वार्थ (**न वाञ्छति**) नहीं चाहेगा ?

टीका :- '**कत्थवि.....वहराई।**'

किसी समय जीव बलवान होता है तो किसी समय कर्म बलवान होता है; इस प्रकार जीव और कर्म का पहले से (अनादि से) विरोध, अर्थात् वैर चला आया है।

इस कथनानुसार पूर्वोपार्जित बलवान कर्म (द्रव्यकर्म), कर्म का, अर्थात् अपना ही हित करता है, अर्थात् जीव में औदयिकादि भावों को उत्पन्न करके नये-नये द्रव्यकर्मों का ग्रहण करके अपने सन्तान को (प्रवाह को) पुष्ट करता है (चालू रखता है), ऐसा अर्थ है।

*** तथा पुरुषार्थसिद्धियुपाय में कहा कि — 'जीवकृतं.....' तथा 'परिणममानस्य....'**

जीवकृत परिणामों का निमित्तमात्र रूप पाकर, (जीव से भिन्न) अन्य पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणमते हैं। (गाथा १२)

नियम से अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं ही परिणमते जीव को भी यह पौद्गलिककर्म, निमित्तमात्र होता है। (गाथा १३)

तथा कालादि लब्धि से बलवान होता हुआ आत्मा, जीव को अपने ही हितरूप तथा अनन्त सुख के कारणपने के कारण उपकारक - ऐसे मोक्ष की आकाँक्षा करता है।

यहाँ दृष्टान्त कहते हैं — **स्वस्वेत्यादि**

अपना-अपना माहात्म्य अधिकतर बढ़ने पर, अपने स्वार्थ को, अर्थात् अपने को उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता ? अर्थात्, सभी चाहते हैं — ऐसा अर्थ है।

इसलिए जान कि कर्माविष्ट (कर्म से बँधा हुआ) जीव, कर्मों का सञ्चय करता है (नये कर्म ग्रहण करता है) ॥३१॥

भावार्थ :- *अनादि काल से इस जीव को कर्म के साथ सम्बन्ध है। यदि जीव पूर्वसंचित कर्म के उदयकाल में अपने आत्मस्वरूप को भूलकर, कर्म के उदय में जुड़े, अर्थात् उसमें आत्मबुद्धि करे तो पुराने कर्म, नये कर्म के आस्रव में निमित्त होते हैं। जब जीव, कर्मोदय से जुड़ता है, तब कर्म की बलजोरी है — ऐसा कहा जाता है परन्तु जब जीव, कर्मविपाक को एकताबुद्धि से नहीं भोगता, तब पुराने कर्म का उदय, नये कर्मबन्ध में निमित्त नहीं होता। उस समय यह कहा जाता है कि जीव के बलवान पुरुषार्थ के समक्ष, कर्म का कुछ (वश) नहीं चलता।*

कर्म तो जड़ है, उसको तो सुख-दुःख नहीं होने से हित-अहित नहीं होता, परन्तु जीव के हीनाधिक पुरुषार्थ की अपेक्षा से वह बलवान या बलहीन कहलाता है। जीव के वर्तमान पुरुषार्थ के आधार पर ही कर्म के बल का माप, व्यवहार से आँका जाता है। जब कर्म का सञ्चय होता है, तब कर्म अपना हित चाहता है — ऐसा कहा जाता है। वह जड़ होने से उसको चाहना या इच्छा नहीं होती। कर्म, कर्म का हित चाहता है, अर्थात् कर्माविष्ट

जीव, कर्म का सञ्चय करता है — ऐसा टीकाकार के कथन का भाव (आशय-अभिप्राय) है।

जब जीव, स्वस्वरूप का भान करके, पर से हटकर, जैसे-जैसे स्वरूप सन्मुखता का पुरुषार्थ बढ़ाता जाता है; वैसे-वैसे उसका (जीव का) बल बढ़ता जाता है और कर्म का निमित्तपना टूटता जाता है। उस समय जीव की सबलता हुई और कर्म की निर्बलता हुई — ऐसा कहा जाता है।

जब जीव, स्वस्वरूप से च्युत होकर, पर की ओर का — कर्म-निमित्तादि की ओर का झुकाव करके, पर के साथ एकताबुद्धिरूप विपरीतपुरुषार्थ करता है, तब वह स्वयं कर्म के वश हो जाता है। उस समय जीव की निर्बलता और कर्म की उस काल में सबलता है — ऐसा कहा जाता है।

पर के साथ एकताबुद्धि आदि होने पर, जीव को राग-द्वेषादि होते हैं; इन राग - द्वेषादि के निमित्त से स्वयं कर्मबन्ध होता है। इस प्रकार कर्म की संतति प्रवाहित रखने में जीव स्वयं ही अपराधी है; उसमें कर्म अथवा निमित्तों का कोई दोष नहीं है। कर्म का सबलपना या निर्बलपना कहना व्यवहार का कथन है।

अज्ञानी जीव के परिणाम को निमित्त करके, पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके, अज्ञानी जीव भी परिणमता है; इस प्रकार जीव के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को परस्पर, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव है, परन्तु परस्पर कर्ता-कर्मभाव नहीं है। ***(समयसार गाथा ८०-८२ की टीका)***

गाथा - ३१ पर प्रवचन

अब जरा गाथा समझने जैसी आयी है। जरा कठिन गाथा है। **यहाँ पर शिष्य कहता है कि वे पुद्गल क्यों बँध जाते हैं ?** फिर तेरी भावना में यह पुद्गल बँध कैसे जाता है ? अनादि काल के पुद्गल का बन्धन कैसे होता है ? **जीव के द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं ?** अनादि काल के आवरण आया ही करे, आया ही करे, कर्म बँधाया ही करे, इसका क्या कारण ?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं - देखो! इस जगत में भ्रमणा करावे, ऐसा जरा श्लोक (जो) न समझे उसको है।

कर्म कर्महिताऽऽबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्व-स्वप्रभाव-भूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।।३१।।

क्या कहते हैं, जरा शान्ति से समझनेयोग्य है।

अर्थ - कर्म कर्म का हित चाहते हैं। जड़ को खबर है हित चाहता हूँ? शब्द तो यह पड़ा है। सेठिया! कहते हैं कि कर्म, कर्म का हित चाहे। देखो, हेमराजजी! इसका अर्थ कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप की ओर रुचि तथा प्रेम न करे और कर्म के निमित्त का जुड़ान करे तो वे नये बँधे बिना कैसे रहे? समझ में आया? **कर्म कर्म का हित चाहते हैं।** कर्म का (हित) अर्थात् मेरे सामने देखे और मैं इसे छोड़ूँ, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? कर्म, कर्म का हित चाहता है। कर्म का जोर हो, तब कर्म बँधा ही करते हैं, ऐसा कहते हैं। अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव को न जानकर यह विकारी पर्याय करके कर्म के निमित्त के सामने देखता है और निमित्त के अवलम्बन से और निमित्त का आदर और सत्कार करता है तो कर्म जान। कर्म नये बँधे बिना रहते नहीं। यह कर्म ने कर्म का हित किया कहलाता है। समझ में आया? मालचन्दजी! क्या कहा? देखो! इस गाथा में से सब लेते हैं।

जो कर्म का बहुत प्रभाव पहले निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय न हो, तब तक कर्म का प्रभाव आत्मा के ऊपर रहता है। और फिर आत्मा का क्षयोपशम हुआ और पुरुषार्थ, कालादि, वह तो सब आत्मा का जोर दिखता है। कर्म के समय कर्म का जोर, आत्मा के समय आत्मा का जोर। ऐसा है नहीं। वह तो अनादि काल से निगोद से लेकर आत्मा ने अपने स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ किया नहीं, इसलिए कर्म के जड़ की ओर के उदय का आवकार दिया, कर्म के उदय के निमित्त को आवकार (दिया)। आवकार समझ में आता है? आवकार नहीं समझते? आदर। कर्म के निमित्त का आदर किया, इसलिए नये कर्म बँधे बिना नहीं रहते। ऐसे कर्म ने कर्म का हित किया, ऐसा कहने में आता है। ओहोहो!

देखो, दोपहर में गाथा। है न? अपने कारण से... जीव अखण्ड आनन्दमूर्ति सुखी और परिणमनभाव से, परिणमनभाव से, पारिणामिकभाव से अपनी पर्याय के विकार को

निरपेक्षरूप से पर की अपेक्षा बिना करता है। ऐसी अपेक्षा छोड़कर। निमित्त के अकेले जोर में जिसने आदर दिया (कि) यह कर्म होता है न... अरे! मुझे कर्म विकार किये बिना नहीं चलता। ऐसा जिसने मानकर निमित्त को आदर और सत्कार दिया है तो नये कर्म बँधे बिना रहते नहीं। कौन ऐसा होगा कि जिसके सामने देखे... गरीब मनुष्य हो और राजा ने सामने ऐसे देखा कि ओहोहो! प्रसन्नता-प्रसन्नता बताता है कि वाह... वाह साहेब! आज तो मेरे सामने देखा। आज तो निहाल हो गये। ऐसा कहते हैं कि कर्म जड़ है, उसके सामने देखकर जिसने उसे आदर दिया, कर्म नये बँधे, यह कर्म ने कर्म का हित किया। पर्याय में गुलाँट खा गया। समझ में आया?

देखो! इसमें से बहुत से बात निकालते हैं कि कर्म का जोर हो, तब आत्मा का जोर नहीं चलता। आत्मा का जोर हो, तब कर्म का जोर नहीं चलता। ऐसा नहीं है। तीनों काल आत्मा अपने विपरीत पुरुषार्थ से भटक रहा है, तब कर्म को निमित्त बनाया है। स्वभाव पुरुषार्थ से करे, तब कर्म का निमित्त उसके कारण से निमित्त का अभाव हो जाता है। कहो, समझ में आया? दृष्टान्त दिया है न? नहीं? ८३ गाथा में नहीं आया था? कि समुद्र में लहरें उछलें, उसमें वायु तरंग में निमित्त है। तरंग उठे, उसमें वायु निमित्त है। न उठे, उसमें वायु का अभाव निमित्त है। इसी प्रकार आत्मा को कर्म का विपाक संसार अवस्था में निमित्त है और मोक्ष अवस्था में उसका असम्भवरूप निमित्त है। संसार में कर्म के उदय का सम्भवरूप निमित्त है और मोक्ष में उसके असम्भव अर्थात् उसके अभावरूप निमित्त है। परन्तु तेरे कारण से वह सब निमित्त होता है। ऐसे आत्मा अपने पुरुषार्थ को सम्हाले नहीं। ज्ञायकमूर्ति आत्मा हूँ, ऐसा देखे नहीं, उसके ऊपर रुचि और प्रतीति करे नहीं और कर्म के गीत गाया करे। कर्म के गीत गाया करे। कर्म... कर्म... कर्म... कर्म...

इसमें तो यह आता है, 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।' आता है या नहीं? 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई।' अकेली अग्नि पर कोई घन मारेगा? परन्तु लोहे में अग्नि जाये तो घन मारे। इसी प्रकार अकेला आत्मा चैतन्य ज्ञानस्वरूप में कोई दुःख नहीं होता। परन्तु अपना स्वभाव चूककर भूल करे, वह कर्म का संग करता है। भूल करे, वह संग करे। संग करने से कर्म ने स्वयं (का) हित

किया, ऐसा यहाँ कहा जाता है। मालचन्दजी! देखो! यहाँ यह बात। देखो! दोपहर की बात। इस जगह यह भी सच्चा और इस जगह यह भी सच्चा, ऐसा है। इस जगह क्या अपेक्षा कहनी है, उसे समझते नहीं।

अर्थ — कर्म कर्म का हित चाहते हैं। चाहते हैं अर्थात् उसे इच्छा होगी? पाठ में तो ऐसा है, देखो! '**कर्महिताबन्धि**' है न? समझ में आया? '**कर्महिताबन्धि**' है न? '**कर्महिताबन्धि**' हित चाहते हैं, इसमें शब्द रखा है। हित चाहते हैं। उस जड़ कर्म को चाहना होगी? वह तो मिट्टी-धूल है, परमाणु है। चाहते हैं, इसका अर्थ कि उसके सामने देखे और जुड़ान करे और नये न बँधे, ऐसा नहीं होता। यह तो जीव को इच्छा होती है। यहाँ जड़ को कहते हैं। चाह की इच्छा कि तू जब कर्म के निमित्त के उदय की दृष्टि में (जुड़े कि) अरे रे! मेरे कर्म का बहुत जोर। ऐसे तूने गीत गाये। कर्म के गीत गाये, कर्म की स्तुति की कि कर्म हमें भटकाता है, कर्म हमें भटकाता है, बापू! और कर्म के कारण हम भटक मरते हैं। ऐसे कर्म के गीत गाये और कर्म बँधे नहीं और कर्म नये (आवे नहीं), ऐसा करके परम्परा में तुझे न भटकावे, ऐसा नहीं होता। यह कहने में आता है। कर्म छूटकर... तेरे आदर में बात और तेरे अधिकार में सब बात है। लो, ऐसा पढ़कर फिर विपरीतता कर दे। अब यह श्लोक दिया है, हों!

कदाचित् **जीव बलवान...** अर्थात् कि आत्मा के स्वभाव का आदर करे, तब जीव बलवान कहलाता है और **कभी कर्म बलवान...** उसमें कर्म का आदर दे, तब कर्म बलवान है, ऐसा कहा जाता है। ओहोहो! गजब शब्द भाई। सब कहते हैं, अर्थ बदल डालते हो, ऐसा कहते हैं। यह तो विरुद्ध हो गया। एक समय का परिणमन तेरे कारण से (है, जिसमें) निमित्त की भी अपेक्षा नहीं। विकार तू करे तो भटके, यह बात निश्चय और सत्य है। और कहते हैं, इस जगह कि कर्म के कारण आत्मा को भटकना (होता है)। तो यह भी सत्य और वह भी सत्य? दो विरुद्ध बात हुई। ऐसा नहीं हो सकता। जरा गाथा के अर्थों में समझे बिना... अरे! हमारे कर्म का जोर। यह कर्म का जोर कहते हैं, वे कर्म के गीत गाते हैं। उन्हें नये बँधे बिना रहते ही नहीं। हमारे अभी बहुत भव कर्म में बाँधे होंगे, वे करने पड़ेंगे, वह कर्म में जोर देता है।

मेरे स्वभाव में भव ही नहीं है। ज्ञानस्वभावी आत्मा में भव ही नहीं है। भव कहाँ से आयेंगे? ऐसा न मानकर, कर्म में कुछ जोर होगा और इतने भव करने पड़े तो उसने कर्म के गीत गाये, इसलिए नये कर्म बँधकर भव हुए बिना रहेंगे नहीं। यह कर्म ने काम किया हित का। अपना आदर दे और वे छूट जायें। आत्मा कर्म को आदर दे और वे छूट जायें, ऐसा होगा? वाघरण जैसी आती हो या साधारण खूहण। बड़ा राजा चक्रवर्ती बुलावे। समझ में आया? आओ... आओ... आओ... दाँतुन लायी या नहीं? वहाँ तो प्रसन्न हो जाये। आहाहा! आज राजा ने मुझे बुलाया था। दाँतुन देने गयी थी। झोले में रोटी भी भरी थी। माँगे तब रोटी देते हैं न! दरबार बैठे थे। कहे, अमुक! प्रसन्न हो गयी। फूली समाये नहीं। घर जाकर कहे कि आज तो महाराज साहेब ने (बुलायी) परन्तु कुछ दाँतुन-बातुन में कुछ कारण होगा तो तुझे बुलाया होगा। तुझे वहाँ मान देने को बुलाया नहीं था।

इसी प्रकार यहाँ जिसे कर्म को आदर दिया कि कर्म है, कर्म है। उसके कारण विकार करना पड़ता है। कर्म के प्रमाण में विकार करना पड़ता है और कर्म हो तो ही विकार होता है। ऐसे जिसने कर्म के गीत गाये, वहाँ कर्म की चाहना (हुई कि) ओहोहो! राजा ने मुझे बुलाया। आत्मा ने मुझे आदर दिया। यह तो एक अलंकार (करके) बात की है। चाहना, वहाँ चाहना कहाँ थी? इस प्रकार का अनुबन्ध कर्म का आदर दे तो कर्म का अनुबन्ध नया-नया हुआ ही करता है।

और जीव बलवान होता है। मैं तो आत्मा शुद्ध चैतन्य हूँ। मुझे और राग को कुछ सम्बन्ध नहीं है। क्षणिक उपाधि और नित्यानन्द के सामने तो फिर कर्म का सम्बन्ध मेरे है नहीं। उस समय जीव बलवान कहलाता है। और कर्म का आदर दे, तब उसे जीव ने आदर दिया, इसलिए कर्म बलवान है, ऐसा आरोप से कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें? बड़ा भाई यह देखो श्लोक यहाँ है, हों! पूज्यपादस्वामी का। तुम्हारी निश्चय की बात आवे, तब तुम घोड़े हो जाते हो ठीक से और ऐसी हमारी बात कहीं आवे कदाचित्... ऐसा कहते हैं, हों! तेरी कहीं आती नहीं। सुन तो सही अब।

अपने अपराध से। अपने अपराध से भूलकर जब कर्म को आदर देता है (तो) नये कर्म बँधे बिना नहीं रहते। उसकी बात करना चाहते हैं। भान भी कर्म को कब था? हम

कौन हैं ? जगत की चीज़ कौन है, ऐसी कर्म को खबर नहीं। हम उन कर्मरूप परिणमे हैं या शरीररूप हुए हैं या जूठनरूप हुए या मैसुखरूप हुए, पुद्गल को खबर है ? हाथ को खबर है कि हम इस प्रकार से हुए हैं ? लकड़ी को खबर है ? रजकण बँधे हुए, उन्हें खबर है ? खबर नहीं वह हित चाहे ? वाडीभाई ! देखो ! यह सब आया है तुम्हारे।

इस तरह जीव और कर्मों का पहले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। लो ! जीव और कर्म का अनादि से बैर चला आता है। यह कर्म का आदर करे तो वह सिर काटे बिना रहे नहीं। अर्थात् नया बँधन करे बिना रहे नहीं। और आत्मा का आदर करे तो कर्म छूटे बिना रहे नहीं। ऐसा अनादि से चला आता है। कहो, मालचन्दजी ! पाठ ऐसा है, हों !

कत्थवि बलिओ जीव कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वहराइ॥

अनादि का वैर चला आता है। यह श्लोक है। वाडीभाई !

यहाँ तो कहा न ! किसी समय कर्म का जोर है। इसका अर्थ ? कि कर्म की ओर तेरी दृष्टि पड़ी है, तुझे आत्मा क्या है, यह सूझता नहीं। इसलिए तुझे कर्म ही सूझता है। नजर में कर्म... कर्म... कर्म... भगवान ने कहे कर्म। तेरी नजर में कर्म पड़ा है और उस नजर से छूट जाये, ऐसा होता नहीं। नया ही बँधता है। तुझे तो नया ही बँधेगा। कर्म, कर्म का प्रवाह छोड़ेगा नहीं, ऐसा कहते हैं। इस कर्म को जब तक आदर देगा, तब तक कर्म का प्रवाह बन्द नहीं होगा। यह कर्म ने हित किया, ऐसा कहने में आता है। और आत्मा अपने स्वभाव का प्रवाह, चैतन्यमूर्ति प्रवाह ज्ञान और आनन्द का पूरा हुआ, ज्ञान और शान्ति के स्वभाव से पूर्ण हुआ, ऐसा जहाँ अपना आदर और प्रवाह का सत्कार किया (तो) कर्म का बल निमित्तरूप से जो कहा था, वह भी रहता नहीं।

इस तरह जीव और कर्मों का पहले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है। देखो ! यह समझने जैसी बात है। सेठी ! देखो ! यह सब पण्डित इसमें से पूछते हैं। देखो ! किसी समय कर्म का बल और किसी समय आत्मा का। यहाँ तो तुम सदा आत्मा की भूल... आत्मा की भूल... आत्मा की भूल (कहते हो)। कभी निमित्त की मुख्यता तो कुछ करते नहीं। किसी समय निमित्त की मुख्यता से, किसी समय उपादान की मुख्यता से

काम चलता है। देखो, देखो! इसमें ऐसा कहा है। ऐसा है नहीं। सदा आत्मा अपने उल्टे उपादान के कारण से कर्म को आदर देता है तो कर्म ने कर्म का अनुबन्ध किया, प्रवाह चलाया, बन्धन किया, श्रेणी चलायी और चिद्विलास में आता है। चिद्विलास में कहा है न। कोई कोई ... निश्चय से ... ऐसा कहने में आता है। तेरे भाव से तू भटका। कर्म के कारण कोई तीन काल में भटकता नहीं। और जीव अपने स्वभाव की सम्हाल करके, अपने सामने... उदयभाव आदि पैदा करे। निमित्त में जुड़ान करे और विकार न हो? कर्म के निमित्त में जुड़ान करे और विकार न हो, ऐसा बनेगा?

इसलिए कहते हैं कि **औदयिक आदि भावों को पैदा कर....** निमित्त से कथन है। **नये द्रव्यकर्मों को ग्रहणकर अपनी...** नये-नये कर्म की प्रजा उसे हुआ ही करेगी। उसका आदर देगा तो। **जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य...** सर्व पदार्थों में अनन्त-अनन्त गुण की जितनी वर्तमान पर्याय होती है, उस सब पर्याय का उसे स्वकाललब्धि कहा जाता है। यहाँ कालादि लब्धि स्वभाव की लेनी है। **कालादि लब्धि से बलवान हुआ...** अर्थात् पुरुषार्थ की जागृति... कालादि लब्धि का अर्थ जिस समय आत्मा ने पुरुषार्थ किया, उस समय को काललब्धि कहते हैं। जिस समय में आत्मा ने ज्ञानानन्द हूँ, ऐसा पुरुषार्थ किया, उस समय की पर्याय के काल को काललब्धि कहते हैं। उस समय को नियत और भवितव्य कहते हैं। स्वभाव और पुरुषार्थ अपने में किया। यह चार आ गये। उस समय कर्म के निमित्त का अभाव कर्म के कारण से होता है। ऐसे पाँचों ही समवाय एक समय में आ जाते हैं। समझ में आया?

कालादि लब्धि से... पाँच बोल हुए न? काल, स्वभाव, नियति... समझे न? पुरुषार्थ और कर्म का अभाव। ऐसी लब्धि अर्थात् प्राप्ति के बलवान होने से **अपने हित को अनन्त सुख का कारण होने से....** अपने हित को। मैं शुद्ध आनन्द हूँ। मेरे स्वभाव में आनन्द की शक्ति का धाम हूँ, ऐसी रुचि और परिणति और श्रद्धा करके इस आत्मा ने उपकार अपना किया। **उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष को चाहता है।** अपना उपकार, अपनी मोक्षलब्धि पूर्ण दशा को स्वयं ने दिया। कोई उसे रोकता नहीं। अपनी भावना स्वयं करे, तब अपने बलवान से स्वयं मोक्ष करता है। कर्म शिथिल पड़े, इसलिए बलवान होता है, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया?

अपने हित को अनन्त सुख का कारण होने से... कौन? **उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष....** मोक्ष में अनन्त सुख है। उस मोक्ष की अभिलाषा किसने की? बन्धन की अभिलाषा की तो बन्धन बढ़े और मोक्ष की अभिलाषा करे तो आत्मा का स्वभाव पुष्टि हो और बन्धन घटता जाये। दो बातें ऐसी हैं। बन्धन की भावना करे तो बन्धन बढ़ेगा। मोक्ष की भावना करे तो मोक्ष और आत्मा की शुद्धि बढ़ेगी। यह तेरे हाथ के अधिकार की बात है। कहो, समझ में आया?

स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष.... वापस मोक्ष की व्याख्या की है। मोक्ष अर्थात् क्या? एक तो अनन्त सुख का कारण होने से मोक्ष ही उपकाररूप है और स्वात्मोपलब्धि—आत्मा के पूर्ण आनन्द की उपलब्धि—प्राप्ति का नाम मोक्ष। मोक्ष कहीं लटकना और कहीं जाना यह नहीं है। आत्मा का अन्दर स्वभाव पूर्ण आनन्द और शुद्ध है, उसकी पूर्ण प्राप्ति का नाम मोक्ष है।

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पन्थ,
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।

भगवान त्रिलोकनाथ ने संक्षिप्त में यह बताया है।

यहाँ पर एक स्वाभावोक्ति कही जाती है कि अपने अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को अपनी-अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता? दुनिया कहती है न? हमारे पट में आया अब हमें कैसे हमारा ऐसा कि प्रभाव न कहें। तेरे पट में आया। पट समझे न? गली में... कहते हैं न? लड़के होते हैं या नहीं? जिसकी गली में जाये वह गलीवाला दवाबे। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि कर्म की गली में आया, जड़ के आदर में आया तो हम जोर करेंगे और तेरी गली में—चैतन्य में जा तो वह जोर घटकर तेरा जोर बढ़ जायेगा। वजुभाई! होता है या नहीं लड़कों को? छोटे-छोटे लड़के ऐसे होते हैं, हों! यह पाँच लड़के देखे न जहाँ और अकेला देखे तो कुछ ठोसा मारते हैं, या कुछ मारे। वह लड़का आया था अपने। ऐसा कहते हैं, कर्म की गली में अर्थात् कि उसके आदर में जो आया तो कर्म जोर किये बिना और नया बँधे बिना रहेगा नहीं। ऐसा दुनिया कहती है। ऐसा इसमें कर्म की इच्छा करेगा तो कर्म बढ़ेगा और आत्मा के भाव की करेगा तो आत्मा की पुष्टि होगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? क्या फल मिलता है? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि –

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः।।२८।।

प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।
याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात।।२८।।

अर्थ – इस संसार में देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को दुःख–समूह भोगना पड़ता है–अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिए इस समस्त सम्बन्ध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं, मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन, काय का आलम्बन होकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ। 'आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है', इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और मन, वचन, काय से आत्मा अभिन्न है, इस प्रकार के अभ्यास से दुःखरूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है, जैसा पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है – 'स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्०'

''जब तक शरीर, वाणी और मन इन तीनों को ये 'स्व हैं–अपने हैं' इस रूप में ग्रहण करता रहता है। तब तक संसार होता है और जब इनसे भेद–बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति हो जाती है।''।।२८।।

फिर भावक (भावना करनेवाला) विचारता है कि संयोग के क्या (फल) ? इसका अर्थ यह है कि देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या फल मिलता है ?

उसी समय वह स्वयं ही समाधान करता है —

देहादिक संयोग से, होते दुःख संदोह।
मन वच तन सम्बन्ध को, मन वच तन से छोड़॥ २८॥

अन्वयार्थ :- (**इह**) इस संसार में (**संयोगात्**) देहादिक के सम्बन्ध से (**देहिनां**) प्राणियों को (**दुःख संदोहभागित्वं**) दुःख समूह भोगना पड़ता है, (अर्थात् अनन्त दुःख

भोगना पड़ता है); **(ततः)** इसलिए **(एनं सर्वं)** उस समस्त (सम्बन्ध) को **(मनोवाक्कायकर्मभिः)** मन-वचन-काय की क्रिया से **(त्यजामि)** मैं तजता हूँ।

टीका :- दु:खों का सन्दोह (समूह), उसका भोक्तापना यहाँ, अर्थात् इस संसार में संयोग के कारण, अर्थात् देहादिक के सम्बन्ध के कारण होता है। (अर्थात्, देहादिक के सम्बन्ध के कारण प्राणियों को अनेक दु:ख भोगने पड़ते हैं); इसलिए उन समस्त संयोगों को (उनके प्रति होनेवाले राग को) मैं सम्पूर्णरूप से छोड़ता हूँ। किस द्वारा करने में आते (सम्बन्ध को) ? मन-वचन-काय की क्रिया से, मनोवर्गणादि के आलम्बन से आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन द्वारा (करने में आते सम्बन्ध को) ही मैं छोड़ता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मैं मन-वचन-काय के प्रति (उनके आलम्बन से) परिस्पन्द होते आत्मा के प्रदेशों को मैं भाव से रोकता हूँ, क्योंकि सुख-दु:ख जिसका एक फल है, वैसे मोक्ष-संसार का वैसा भेदाभेद का अभ्यास, मूल है (अर्थात्, आत्मा, मन-वचन-काय से भिन्न है — ऐसे भेद अभ्यास से सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है और आत्मा, मन-वचन-काय से अभिन्न है — ऐसे अभेद अभ्यास से दु:खरूप संसार की प्राप्ति होती है।)

तथा (समाधितन्त्र, श्लोक ६२ में) कहा है कि — **'स्वबुद्ध्या.....'**

जब तक शरीर, वाणी और मन — इन तीनों को 'यह मेरे हैं' — ऐसी आत्मबुद्धि से जीव ग्रहण करता है, वहाँ तक संसार है और जब उनसे भेदबुद्धि का (अर्थात् 'आत्मा, शरीरादि से भिन्न है' — ऐसी भेदबुद्धि का) अभ्यास करता है, तब मुक्ति होती है ॥२८॥

भावार्थ :- *देहादि के सम्बन्ध के कारण प्राणियों को संसार में अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं; इसलिए जीव को उन देहादिक के साथ की एकताबुद्धि को सर्वथा छोड़ना चाहिए और स्वसन्मुख होकर ऐसे परिणाम करना चाहिए कि जिससे मन-वचन-काय का अवलम्बन छूटकर आत्मा, अविकारी हो और अन्ततः आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन भी रुक जाये।*

जब तक शरीर मन-वाणी में आत्मबुद्धि है, तब तक संसार की परम्परा चालू रहती है परन्तु मन-वचन-काय, आत्मा से भिन्न हैं — ऐसे भेदविज्ञान के अभ्यास से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

असोज शुक्ल ४, रविवार ०७-१०-१९५६, गाथा - २८, २९, प्रवचन - ६ (८१०)*

यह इष्टोपदेश है, इसकी २८वीं गाथा चलती है। शिष्य ने ऐसा पूछा है कि अथवा धर्मी क्या करते है अपने भाव में? **फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? क्या फल मिलता है? उसी समय स्वयं ही समाधान भी करता है।** धर्मी जीव अपने में परपदार्थ के सम्बन्ध से क्या मिलता है और परपदार्थ के सम्बन्ध तोड़ने से, स्वभाव में (जुड़ने से) क्या फल होता है? इस संसार में देहादिक अर्थात् कार्मण, तैजस, औदारिक आदि यह शरीर है, इनके **सम्बन्ध से प्राणियों को दुःखसमूह भोगना पड़ता है।** क्या कहा?

यह आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में ऐसे ज्ञान और चैतन्य निर्मलस्वरूप है, उसका अन्तर सम्बन्ध न करके, अन्दर कार्मणशरीर, तैजस और औदारिक आदि है; ऐसे स्वज्ञान शरीर का सम्बन्ध न करके, पर शरीर के सम्बन्ध के साथ एकत्वबुद्धि करे, वही महा दुःख के समूह का कारण है। उस दुःख को भोगना पड़ता है। बहुत संक्षिप्त कहा है। आत्मा में संयोग सम्बन्ध से जो पृथक् वस्तु ... यह औदारिक आदि है, उसमें सम्बन्ध करे कि उसकी क्रिया मैं करता हूँ और उसके कारण मुझे कुछ लाभ होता है, ऐसे कर्म के सम्बन्ध में, उसके उदय में या इस औदारिकशरीर में परसन्मुख के झुकाव का भाव, वही दुःख के समूह को भोगने का कारण है। कहो, समझ में आया? बहुत संक्षिप्त।

अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं,... लो! यहाँ तो संयोग सम्बन्ध से रही हुई चीज़ का अवलम्बन करने से, उसका आश्रय करने से जीव को अनन्त दुःख, मिथ्यात्व आदि कषायों का अनन्त दुःख भोगना पड़ता है। समझ में आया? **इसलिए इस समस्त सम्बन्ध को...** मैं उस सम्बन्ध को छोड़ता हूँ, धर्मात्मा कहते हैं। यह कार्मणशरीर, औदारिकशरीर, इनकी जो अवस्था और जो होवे, वह उसके कारण से उसमें होती है। मुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि मैं तो एक ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यस्वभाव हूँ। ऐसे मेरे स्वभाव के साथ मुझे सम्बन्ध है। ऐसा सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव अपने आत्मा में भावना करता है।

* www.vitragvani.com अनुसार प्रवचन ८१०

समस्त सम्बन्ध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं,... मन, वचन और काया का अवलम्बन लेकर उस पर में सम्बन्ध होता है, उसे **मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ।** अर्थात् कि परसन्मुख के तीनों योग का जो सम्बन्ध पर की ओर होता है, उन सबको छोड़कर मैं ज्ञाता-दृष्टा में सम्बन्ध करता हूँ। बहुत संक्षिप्त। कहो, समझ में आया? यह मन, वचन और काया तथा कार्मणशरीर और औदारिक में ऐसे सम्बन्ध करना, वह अधर्मभाव है। सेठी! और ज्ञाता चैतन्यमूर्ति अनन्त ज्ञान का, आनन्द का कन्द हूँ, ऐसा स्वभाव के साथ सम्बन्ध करना, वह अनन्त क्लेश और दुःख के नाश का उपाय है। कहो, समझ में आया? संयोग सम्बन्ध से दुःख और स्वभाव सम्बन्ध से सुख। ऐसी व्याख्या है। बहुत संक्षिप्त।

यह तो इष्टोपदेश है न! इष्ट अर्थात् आत्मा के हितकर का उपदेश। आत्मा का हित कैसे हो। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी तीर्थंकर भगवान ने हित कैसे किया और हित कैसे कहा? भगवान ने हित कैसे किया और हित कैसे कहा? ... इस संसार में कार्मणशरीर आदि मन, वाणी, देह। यहाँ मन, वाणी, देह में जुड़ान है न! ऐसे जुड़ान करे न, तब उसे कार्मणशरीर देहादि में जुड़ान हुआ कहलाता है। और उसके जुड़ान में फिर भले पुण्य या पाप भाव हो, वह सब अहितकर, दुःखदायक और दुःख को भोगने का ही उपाय है। ऐसी व्याख्या की है। समझ में आया?

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में ऐसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसका अन्तर सम्बन्ध करने से स्वभाव की एकाग्रता से शान्ति, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र प्रगट होता है। और पर का सम्बन्ध करने से आत्मा को अन्दर में पुण्य और पाप की विकल्प और क्लेशमय वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उस क्लेशमय वृत्ति को ठीक मानने से मिथ्या भ्रान्ति और दुःख का अनुभव करना पड़ता है। कहो, समझ में आया?

यह **मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं,...** मन, वचन और काय का अवलम्बन लूँ तो परपदार्थ का सम्बन्ध होता है। **इसलिए मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ।** तीन योग का सम्बन्ध ही छोड़ता हूँ। लो, ऐसा संक्षेप में कहते हैं। ओहोहो! इस मन के सम्बन्ध में दया, दान, व्रत, भक्ति, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे मन के

सम्बन्ध में दु:खदायक है, अहितकर है। इष्ट नहीं। समझ में आया? मोहनभाई! क्या समझ में आता है इसमें? यहाँ मन है न, मन? यहाँ हृदय में आठ पंखुड़ी के आकार ऐसे कमल के आकार मन जड़ है। कहते हैं कि उसका अवलम्बन लेने जहाँ परपदार्थ का संयोग करने जाये, वहाँ उसमें पुण्य और पाप के क्लेशमय विकार ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कार्मणशरीर और औदारिकशरीर की ओर उसका झुकाव जाने से अकेला विभावभाव ही उत्पन्न होता है। वह विभावभाव ही अनन्त क्लेश का और दु:ख का कारण है। ओहोहो! समझ में आया?

अभिप्राय यह है कि मन, वचन, काय का आलम्बन लेकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ। अर्थात् यह आत्मा—मैं एक ज्ञान और शुद्ध चैतन्य हूँ, उसके अवलम्बन द्वारा, मन, वचन और काया के अवलम्बन द्वारा जो शुभाशुभभाव होते थे, उन्हें स्वभाव के अवलम्बन द्वारा उन दोनों भावों को मैं रोकता हूँ। ऐसा उपदेश में तो यह आवे न? मन, वचन और काया के झुकाव में, काया के झुकाव में कहीं पूजा, भक्ति या व्रत का शुभभाव होता हो या उसके झुकाव में हिंसा, झूठ, चोरी का हो, वाणी में सत्य बोलूँ ऐसा शुभभाव हो, असत्य बोलूँ ऐसा अशुभभाव हो, मन में जुड़ान से भक्ति, व्रत, नियम के विकल्प उठे, तपस्या-त्याग के। तथा हिंसा, झूठ की वृत्ति उठे, वह सब परसन्मुख के भाव के झुकाव में अकेला विकारभाव ही उत्पन्न होता है। उसमें जरा भी आत्मधर्म और शान्ति नहीं है। कहो, समझ में आया? यह शुभाशुभभाव, वह मन-वचन-काया के परसन्मुख के अवलम्बन से उत्पन्न होते हैं। इसलिए उस अवलम्बन को छोड़कर निरालम्ब पर की अपेक्षा से निरालम्ब चैतन्यमूर्ति मैं आत्मा हूँ, ऐसे स्वभाव का अवलम्बन करके उन शुभाशुभभाव को मैं रोकता हूँ। इसका नाम धर्म और शान्ति कहा जाता है। ओहो! कहो, समझ में आया?

यहाँ तो अभी मन, वचन और काया से कुछ करना है और उससे लाभ प्राप्त करना है। कुछ मन-वचन दोनों अच्छे मिले हों। मन यहाँ मिला है न मन? भाई! मन मिले तो लाभ होता है, वाणी मिले तो लाभ हो, देह मिले तो लाभ हो और कार्मण कुछ बँधे, कार्मण शरीर कुछ अच्छा बँधे तो लाभ हो। कहते हैं कि यह सब परालम्बी भाव, यह एकान्त

दु:खदायक है। एकान्त दु:खदायक है। फिर उसमें शुभभाव हो या अशुभ हो। यह पर के अवलम्बन के लक्ष्य से कभी शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर के अवलम्बन के आश्रय से कभी तीन काल में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट ही नहीं होता। समझ में आया?

आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है,... आत्मा मन, वाणी और शरीर, कार्मण के संयोगसम्बन्ध से भिन्न है। अन्तर्दृष्टि करने से वह आत्मा पृथक् तीन काल-तीन लोक में वह मन, वाणी और देह के रजकण तथा कार्मणशरीर से भिन्न है, ऐसी अन्तर भावना करने से पर का संयोग छूटे और स्वभाव का सम्बन्ध हो, उसे इष्ट हितकारी उपाय कहते हैं। कहो, समझ में आया? ...भाई! बहुत सूक्ष्म, भाई! यह तो अभी सरल है, हों! दोपहर की अपेक्षा जरा (सरल है)। समझ में आया?

ऐसे दो पदार्थ हैं। एक ओर राम प्रभु। एक समय सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में पूर्ण शान्ति से भरपूर आत्मा और एक ओर शरीर, वाणी, मन, कर्म, कार्मण, मन, वचन और काया यह देहादि सब। यह आत्मा अन्तर्मुख के झुकाव को छोड़कर परसन्मुख होकर जितना अवलम्बन मन, वाणी, देह का करे, अरे! देव-गुरु-शास्त्र का अवलम्बन करने जाये, वहाँ मन का अवलम्बन आवे और उसमें विभाव की ही उत्पत्ति होती है। और वह विभाव दु:खदायक ही है। सीधी बात है। समझ में आया? भीखाभाई! भीखाभाई हँसते हैं। इसमें से निकाला वापस। परन्तु वही यहाँ कहते हैं। यहाँ तो स्पष्ट बात है।

'**दु:खसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्**' ऐसा है न? '**त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः**' इस आत्मा को पर के सम्बन्ध के जुड़ान, पर सम्बन्ध कारण नहीं, परन्तु स्वयं पर का सम्बन्ध करता है, इसलिए दु:ख होता है। वह तो चीज़ तो चीज़ ही है। शरीर, वाणी, मन, कार्मण, औदारिक है, वह है। परन्तु उसका ऐसा सम्बन्ध करता है, अवलम्बन लेता है, वही दु:ख और परिभ्रमण और संसार के भटकने का क्लेश का उपाय है।

यह **आत्मा मन, वचन, काय से भिन्न है,...** पृथक् है। **इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है,...** बहुत संक्षिप्त। भगवान आत्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव हुए, उनके हुकम में, वाणी में आया और उन्होंने ऐसा प्राप्त किया

कि यह आत्मा मन, वचन और काया उनसे अत्यन्त भिन्न है, इसलिए उनके अवलम्बन को लेने की तुझे आवश्यकता नहीं है। तेरे लाभ के लिये मन, वचन और काया का आधार और अवलम्बन तथा आश्रय लूँ, यह आत्मा के स्वभाव के लिये आवश्यक नहीं है। उनसे मैं भिन्न हूँ, मन, वचन, काया की क्रिया से, उनके कार्यों से, उनके अवलम्बन के भाव से, उनसे भिन्न अर्थात् उनकी ओर का अवलम्बन, ऐसे भाव से भी मैं भिन्न हूँ। ऐसे आत्मा को ऐसे अभ्यास से। मन, वचन और काया तथा कार्मण से भिन्न हूँ और अपने ज्ञान तथा आनन्दस्वभाव से भरपूर हूँ, ऐसी आदत पड़ने से अन्तर के अभ्यास से, अन्तर के अनुभव से सुखरूप **एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है,...** उसमें से सुखरूप एक ही फल जिसका, एक ही फल सुख। दूसरा फल नहीं। आत्मा की पूर्णानन्द की शान्ति एक फल की प्राप्ति इस उपाय से मिलती है। कहो, समझ में आया?

और मन, वचन, काय से आत्मा अभिन्न है,... यह मन, वाणी और देह। आत्मा इनका अवलम्बन ले सकता है और उसमें लाभ होता है, ऐसी जो बुद्धि। मन, वाणी, देह का कोई अंश तो आत्मा को लाभ करे या नहीं? अच्छे साधन मिले, वह कहीं लाभ करे या नहीं? ऐसे जो मन, वचन और काया से अपने को लाभ में माने, वह मन, वचन और काया को आत्मा के साथ एक मानता है। **इस प्रकार के अभ्यास से...** इस प्रकार के अभ्यास से **दुःखरूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है,...** गजब बात भाई! लो! मन, वचन और काया का अवलम्बन लेने से, उसका अभ्यास करने से **दुःखरूप एक फलवाले संसार...** कहीं संसार में सुख मिले ऐसा नहीं है। यहाँ तो सब निकाल डाला। जाधवजीभाई! लो, ये पैसा मिले और इससे सुख मिले, ऐसा नहीं है। कहते हैं, दुःख है।

जितना मन, वचन और काया... भगवान आत्मतत्त्व तो भिन्न तत्त्व और यह तो जड़, मिट्टी तत्त्व है। इस अजीवतत्त्व के ओर के अवलम्बन के जो भाव होते हैं, फिर शुभ हो या अशुभ हो, पुण्य हो या पाप हो, दया-दान हो या हिंसा हो, वे सब भाव वह पुण्य और पाप की ओर का पर की ओर के अभ्यास का भाव दुःखरूप एक फलवाला है। उसमें तो एक प्रकार का फल—दुःखरूप ही एक प्रकार के फल की प्राप्ति है। अकेला दुःख? भारी बात भाई!

आत्मा मन, वचन, देहादि से भिन्न की अन्तर भावना करने से, उसके अभ्यास से एक फलवाला सुख ऐसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। और मन, वचन, काया तथा कार्मणशरीर के अन्तर के अवलम्बन द्वारा जो कुछ अभ्यास और आदत और उसे टेव पड़े, उसमें से एक फलवाले दु:ख, ऐसे संसार की प्राप्ति होती है। ओहो!

यहाँ तो कहते हैं कि मन के अवलम्बन में कोई दया, दान, व्रत के, भक्ति के पुण्य परिणाम आये। यह उनके फल में संसार की एक ही दु:खरूप फल प्राप्ति है। उसमें कहीं सुखरूप के फल की प्राप्ति नहीं है। मोहनभाई! यह पैसेवाले सुखी हैं, यह भूलते होंगे आचार्य? भूल नहीं जाते होंगे? अरे! यह पैसेवाले पाँच, पचास लाख हों, करोड़ हों, दूसरे को मदद करें, सुखी हो। सुन बात। एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में ऐसे आत्मा ज्ञान की मूर्ति शुद्ध चैतन्यद्रव्य है। इसके अवलम्बन को छोड़कर जितना मन, वचन और काया के सम्बन्ध में तेरा पुण्य-पाप का भाव होता है, उसके फल में एकान्त दु:ख की-संसार की प्राप्ति है। उसमें आंशिक भी धर्म की प्राप्ति नहीं है। ओहोहो! कहो, सेठिया! बराबर होगा? मालचन्दजी! यह सब क्रिया उड़ा देते हैं यह तो।

भगवान आत्मा एक समय सेकेण्ड का असंख्यवाँ भाग, उसके दो भाग। वह आत्मा मन, वाणी, देह के साथ ऐसे सम्बन्ध करके जितना भाव उत्पन्न करे, वह सब उसके फल में संसार दु:खरूप ही मिलता है। सेठी! यह परपदार्थ का अवलम्बन मन, वचन और काया के अवलम्बन बिना लक्ष्य पर में नहीं जाता। इसलिए परसन्मुख के अवलम्बन में एकान्त दु:ख के फल की प्राप्ति है, ऐसा कहते हैं। एकान्त दु:ख। यह कहा न! सुना नहीं? **दु:खरूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है,...**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! सुख बतलाते हैं उसको।

यहाँ तो दो भाग है। एक ओर आत्मा राम तथा एक ओर सब यह गाँव। शरीर, वाणी, मन सब, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश सब। आत्मा अपने स्वरूप शुद्धता का सम्बन्ध छोड़कर जितना सम्बन्ध परपदार्थ के अवलम्बन में करे, उसके फल में एक ही दु:ख, दु:ख और दु:ख ही है। उसमें सुख के अंश की गन्ध भी उसमें नहीं है। फिर

पुण्य हो या पाप हो। दोनों दु:ख के ही कारण और दु:ख फल ही है। गजब बात, भाई!

यहाँ तो दो टुकड़े किये। मन, वचन, काया से जहाँ भिन्न तो मन, वचन, काया की क्रिया मैं करूँ और उसे व्यवस्थित लगाऊँ। मन, वचन और काया का सदुपयोग करूँ, मुझे ऐसा मनुष्यदेह मिला, मन मिला, वाणी मिली, उसका सदुपयोग करूँ, ऐसी जो बुद्धि, वह परपदार्थ में जुड़ान की बुद्धि एकान्त दु:ख के फल को प्रसव—जन्म दे, ऐसी है। उसमें दु:ख के अतिरिक्त जरा कुछ भी सुख है नहीं। ओहो! कहो, भगवानजीभाई! कहो, समझ में आया या नहीं इसमें?

दो बातें ली। आत्मा पर से भिन्न है। शरीर, वाणी की क्रिया से भिन्न, कार्मण से भिन्न। ऐसे भिन्न का अभ्यास करने से एकान्त सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति और परपदार्थ का एकपना उससे लाभ होगा, ऐसी मान्यता से उसका सम्बन्ध करे, (वह) एकान्त दु:ख की प्राप्ति। एक ओर संसारफल तथा एक ओर मोक्षफल—दो बात है। तीसरी बात है नहीं। बीच के वांधा की बात इसमें नहीं है। कहो, समझ में आया?

जैसा कि पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है - यह समाधिशतक में श्लोक आ गया है। **जब तक शरीर, वाणी, और मन इन तीनों को ये स्व हैं—अपने हैं, इस रूप में ग्रहण करता रहता है।** मन, वचन और काया। मन हृदय में है जड़ मिट्टी। जैसे यह कोडा है, यह काला-सफेद यह, यह मिट्टी है, उसी प्रकार यहाँ हृदय में एक मन है। वाणी बोली जाती है, वह जड़, जड़ भाषा और शरीर। इन **तीनों को ये स्व हैं** - यह मुझे कुछ लाभ करेंगे, कुछ लाभ करेंगे। मन मिला क्षयोपशम दे, वाणी मिली सत्य उपदेश से लाभ हो, काया मिले तो देव-गुरु-शास्त्र का विनय करने का लाभ हो। ऐसे मन-वचन-काया को ये मेरे, मुझे लाभ करे **अपने हैं इस रूप में ग्रहण करता रहता है।** ऐसा स्व है। इस रूप उन्हें जो मानता है। **तब तक संसार होता है,....** वहाँ तक उसे परिभ्रमण और संसार की उत्पत्ति होती है। ओहोहो!

और जब इनसे भेद-बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है,... मन, वचन और काया से भी भिन्न हूँ। यह क्रिया मेरी है ही नहीं। हिलना, चलना, बोलना, मन के रजकणों का बदलना, वह सब क्रिया जड़ की है। मुझमें नहीं है। उनसे भिन्न पड़कर ज्ञान का जितना

अभ्यास करे, **तब मुक्ति हो जाती है।** बात बहुत संक्षिप्त कर डाली, लो। शुरुआत में भी पर से पृथक् पड़कर एकान्त स्व का अभ्यास, वह मुक्ति का कारण और फिर भी क्रम-क्रम से जितना पर से पृथक् पड़े, फिर ज्ञानी को राग रहे—व्यवहार, उससे भी जितना पृथक् पड़े, पृथक् पड़े वह मुक्ति का कारण है। उसमें रुक जाये, उतना बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया? यह तो इष्टोपदेश में बहुत संक्षिप्त व्याख्या की और समाधिशतक में।

प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।
याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात॥२८॥

हिन्दी श्लोक है, उसमें है। '**प्राणी जा संयोगते**', यह आत्मा जो मन, वचन, काया और कार्मण के शरीर तथा औदारिकशरीर के और वाणी के सम्बन्ध से। उनका सम्बन्ध करने के भाव से। ऐसा। '**दुःख समूह लहात**' दुःख का समूह उसके कारण से अनुभव करता है। '**याते मन वच काय युत**' मन, वचन और कायासहित '**हूँ तो सर्व तजात**' तीनों को छोड़कर ज्ञानानन्द की ओर का अभ्यास और अनुभव करता हूँ। यह ज्ञानानन्द का अभ्यास मन, वचन और काया का आश्रय छोड़कर करना, इसे धर्म और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। इसे मुक्ति का मार्ग (कहते हैं)। बाकी सब परिभ्रमण के मार्ग हैं। कहो, समझ में आया?

फिर भावना करनेवाला सोचता है... और धर्मी... देखो! यह सम्यग्दृष्टि की भावना। सम्यग्दृष्टि की भावना ऐसी नहीं कि मैं मन, वचन और काया को अवलम्बन करूँ, उतना मुझे सुख होगा। मैं पर का आश्रय लूँ, उतना मुझे कुछ लाभ हो, ऐसी भावना मिथ्यादृष्टि की है। सम्यग्दृष्टि को वह भावना है नहीं। सम्यग्दृष्टि धर्मी की (भावना तो ऐसी है कि) जितना मन, वचन और काया से भिन्न का मेरा अन्तर अनुभव, पर से भिन्न का अनुभव, वही मुझे मुक्ति का कारण है। और मिथ्यादृष्टि जितने मन, वचन, काया के अच्छे साधन मिले, अच्छा उपयोग करें, सदुपयोग करे, मनुष्य का देह मिला, मन मिला, वाणी मिली, मानो पैसा मिला, अच्छे मकान मिले, इज्जत-बिज्जत मिली तो इसकी सिफारिश से दुनिया से अच्छे काम कराना। ऐसा परपदार्थ के अवलम्बन का भाव एकान्त दुःखदायक, दुःखदायक ही है। संसार को प्रसव और जन्म दे, ऐसा है। उसमें से आत्मा

को शान्ति का कोई कारण नहीं है। कहो, भीखाभाई! बराबर होगा? यह सब जगत क्या चलता है यह?

फिर भावना करनेवाला.... धर्मी अपने लिये विचार करता है **कि पुद्गल-शरीरादिकरूपी मूर्त द्रव्य के साथ जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीव का व्यवहार सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं,...** उस सम्बन्ध के कारण जीव को देह छूट जाये और मैं मर गया, ऐसा माने। शरीर में रोग आवे तो रोग हुआ, निरोग होवे तो निरोग हुआ, आँख फूटी तो मैं फूट गया, पैर टूट गया तो मेरा पैर टूट गया। उसके सम्बन्ध के कारण अज्ञानी अनादि की ऐसी कल्पना कर रहा है।

तथा मरणादि सम्बन्धी बाधायें भी होती हैं। शरीर का सम्बन्ध होवे तो शरीर के वियोग से मरण भी होगा। मरण अर्थात् उस प्रकार का। और शरीर के सम्बन्ध में उस प्रकार का रोग भी होगा। **तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे?** धर्मी सम्यग्दृष्टि विचार करता है, उसे किस भावना से अब इस पर को हटाया जाये? उससे छूटा जाये। **यह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि—**

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥ २९॥

सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव अपने में ऐसा विचार करता है कि **मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका?** वह तो शरीर का वियोग होगा। वह तो पर चीज़ थी। उसका सम्बन्ध हुआ, उस संयोग का वियोग होता है। कहीं मेरे स्वभाव का संयोग था, उसका वियोग मुझे होता नहीं। अरे रे! यदि शरीर दो वर्ष होता न तो कुछ अच्छे काम करता। मूढ़ है। शरीर से अच्छे काम परपदार्थ के सम्बन्ध से करना, उसकी दृष्टि संयोगी दुःखदायक अज्ञान और परिभ्रमण का कारण है।

मेरी मृत्यु... अरे रे! अब मृत्यु आयी। शरीर छूट जायेगा। शरीर रहेगा नहीं। ऐसा डर अज्ञानी को लगता है। ज्ञानी को डर नहीं लगता। मेरी मृत्यु नहीं है। मैं तो अनादि अनन्त ज्ञानमूर्ति चैतन्य भावप्राण से जीनेवाला हूँ। चैतन्य के भावप्राण से मेरा जीवन है। मेरा जीवन कहीं शरीर के कारण, पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया, श्वास और आयुष्य—

ऐसे दस जड़ के प्राण के कारण मेरा जीवन नहीं है। अरे! अब आयुष्य क्षय होने आया। अब यह छोड़ना (पड़ेगा)। समझे न? नहीं कहते, क्या कहते हैं यह? रैनबसेरा... अब मरने के सन्मुख हो गया। अज्ञानी की दृष्टि संयोग शरीर पर है। उसके वियोग को मृत्यु मानता है। ज्ञानी की दृष्टि अनादि-अनन्त ज्ञानमूर्ति चैतन्य हूँ, (उसके ऊपर है)। संयोगों के छूटने से कहीं मुझे मृत्यु नहीं है।

मुझे व्याधि नहीं,... दूसरा प्रश्न। यह रोग आवे न शरीर में। लो, इस रोग का मन्त्र। भगवानजीभाई! इस शरीर में रोग आवे, उसका क्या करना? कोई मन्त्र-तन्त्र होगा? डोरा-धागा? भाई, डोरा बाँध दो और रोग मिट जाये। हाँ। क्यों? **मुझे व्याधि नहीं,...** इस शरीर में रोग की अवस्था हो, मेरे आत्मा में नहीं। आत्मा तो ज्ञानघन अरूपी है। शरीर मिट्टी और धूल, माँस और हड्डियाँ हैं। उसमें रोग और व्याधि, उल्टी और दस्त, बुखार... बुखार-बुखार। बुखार आता है न? बुखार आता है। आहाहा! गोटला चढ़े। क्या कहलाता है? कोलेरा। गोटला चढ़े, अब रक्त निकले, बहता जाये रक्त नाक में से, ...में से, मूत्र बन्द न हो, कब्जी हो जाये, छूटे नहीं। पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... ढ़ोर को होता नहीं? बैल को। बैल को होता है। यहाँ मर गया था ढ़ोर। चार सौ-पाँच सौ... पेशाब की व्याधि। तड़प-तड़प कर मर गया। तड़प कर। और वह... महा पीड़ा।

यहाँ कहते हैं, **मुझे व्याधि नहीं,..** शरीर में होती अवस्था मुझमें नहीं है। मेरे अस्तित्व में शरीर नहीं और शरीर के अस्तित्व मैं नहीं। ऐसा सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव शरीर की व्यथा, पीड़ा, व्याधि **मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे?** देखो! यह पीड़ा टालने का उपाय। वाडीभाई! दृष्टि बदल। शरीर में रोग हुआ, उसका दुःख नहीं। 'यह रोग मुझे हुआ,' ऐसी मान्यता के असत्भाव का दुःख है। होता है तो जड़ में—उसमें और कहता है कि मुझे हुआ। वह तो जड़ है। यह तो पड़ा रहेगा थोथा। श्मशान में राख होगी। यह कहाँ तेरी चीज़ है? अरे! मुझे रोग! वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि धर्म का नाम धरावे और शरीर को रोग हो तो ऐसा माने कि अरे! मुझे हुआ... मुझे हुआ... मुझे हुआ। तेरा अस्तित्व, तेरी अस्ति में उस रोग की अवस्था आयी है? तेरी अस्ति तो अरूपी ज्ञानस्वरूप है। उसमें रोग की अवस्था प्रविष्ट हुई है? ऐसी अवस्था तो वहाँ हो रही है।

धर्मी जीव... **मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ?** व्याधि ही मेरे आत्मा में स्पर्श नहीं करती। व्याधि का एक अंश मेरे आत्मा को स्पर्शता नहीं। गजब बात, भाई! बिच्छु का डंक... समझ में आया ? या सर्प का जहर, वह तो मिट्टी है, पुद्गल है। उसकी अवस्था शरीर में होती जड़ की अवस्था है। उस जड़ की अवस्था से मुझे दुःख तीन काल में नहीं है। तब दुःख किसका है ? उस अवस्था के सम्बन्ध में एकान्त ज्ञान का उपयोमग रोककर 'यह मुझे होता है', ऐसा भाव यह करता है। जितने प्रमाण में राग और द्वेष होता है, जितनी प्रमाण में परपदार्थ में प्रीति है, उतनी श्रेणी प्रतिकूलता में इसे द्वेष होता है।

जितने प्रमाण में इसे शरीर में प्रेम है, उतने प्रमाण में प्रतिकूलता के समय द्वेष है। यह इसका तौल है। यह इसका माप। जितने प्रमाण में शरीर के प्रति अनुकूलता में राग, उतने ही प्रमाण में राग न टले, तब तक ऐसे पदार्थ के प्रति प्रतिकूलता में उतने प्रमाण में द्वेष है। समझ में आया ? उसका दुःख नहीं। उसमें अनुकूल की मान्यता उतनी ही प्रतिकूलता में द्वेष का अंश। कहो, बराबर है सेठी! क्या करना वह सारण चढ़े तब ?

यहाँ कहते हैं, **मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ?** शरीर की अवस्था पलटने पर... पानी ऐसे चला जाता हो नदी के किनारे और उसमें कोई रक्त और माँस चला जाये और गाँव का देखनेवाला (ऐसा कहे), अरे रे! हमारे गाँव की सीमा में यह माँस और हड्डियाँ। यह तो पहले मर गया और बहता है इसमें। यहाँ किसने डाला ? परन्तु वह तो चला जाता है, वह तेरे गाँव में कहाँ और तेरी सीमा में कहाँ है ? इसी तरह शरीर की अवस्था, पानी के प्रवाह में जैसे माँस और हड्डियाँ बहती हो और अज्ञानी मानता है कि यह मेरे, मेरे गाँव की सीमा मुझे होती है। उसी प्रकार यह शरीर की अवस्था आत्मा को सीमा मानों नजदीक हो, इसलिए मुझे होती है, ऐसी मान्यता का तुझे दुःख होता है। पादर समझते हो ? पादर क्या कहते हैं ? गाँव को पादर। निकट। बस, यह पादर। हमारे गोंदरे कहते हैं।

अरे! शरीर का वियोग वह तो स्वभाव के सम्बन्ध को बताता है। वह तो संयोगी चीज़ थी तो वियोग हो गयी। मेरा ज्ञानप्राण है, वह कोई संयोगी नहीं कि जिससे उसका वियोग हो। मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला चैतन्य भावप्राण से जीवित आत्मा, उसे मरण का भय नहीं और निरोग स्वरूप मेरे आत्मा में है। राग का भी रोग मेरे स्वरूप

में नहीं है। ऐसे स्वरूप की दृष्टि में **मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ?** धर्मी ऐसा विचार करता है।

न मैं बालक हूँ,... सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मैं बालक नहीं। बालक तो है या नहीं ? शरीर बालक हो आठ वर्ष का, दस वर्ष का तो भी सम्यग्दृष्टि होता है। आठ वर्ष के, दस वर्ष के बालक का जीव भी धर्मात्मा होता है। यहाँ भगवान विराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में। सीमन्धर भगवान तीर्थंकर के समवसरण में आठ-आठ वर्ष की बालिकायें, आठ-आठ वर्ष के राजकुमार भी सम्यग्दर्शन को पाते हैं। अरे ! हमारा आत्मा बालक नहीं। हम बालक नहीं। वह तो देह-मिट्टी की अवस्था है। बालक अर्थात् कि अवयव मुलायम और कोमल, कोमल अवयव वह तो जड़ की अवस्था है। मैं बालक नहीं हूँ।

न मैं बूढ़ा हूँ,... मैं वृद्ध नहीं। शरीर की अवस्था में जीर्णता दिखाई दे, काले के सफेद दिखाई दे, वह तो मिट्टी की, धूल की अवस्था है। उसका अस्तित्व मेरे आत्मा में नहीं है। और मेरा आत्मा उसमें नहीं है। इसलिए मैं वृद्ध नहीं हूँ। **न जवान हूँ...** जवान-युवक। २५ वर्ष का, ३० वर्ष का, ४० वर्ष का। जवान कौन ? प्रभु ! वह तो देह की अवस्था है। बापू ! वह जवान अवस्था चली जायेगी और वृद्धावस्था ऐसी आवे। ऐसे कमर झुक जाये, सहारा लिये बिना बैठा नहीं जाये, नाक में से पानी बहे, मुँह में से लार निकले, आँख में से मैल निकले, कान से सुनाई दे नहीं, चबाया नहीं जाये। आहाहा ! बापू ! वृद्धावस्था जैसा दुःख नहीं। ऐसा कहते हैं न ? मूढ़ है ? वृद्धापन किसका ? शरीर की अवस्था है। वह तो मिट्टी की अवस्था के काल में वह आये बिना रहेगी नहीं। दाँत-बाँत गिर जाते हैं या नहीं ? एक भी दाँत नहीं रहता। कितनों को तो ३५-३५ वर्ष में। बहुत रखने का भाव हो। कितनों को ८० वर्ष में एक दाँत जाता नहीं। वह क्या आत्मा का कार्य है ? परन्तु खाना बराबर आया होगा। सेवा-सुश्रुषा करना (आया होगा) इसलिए दाँत अच्छे (रहे), ऐसा होगा या नहीं ? गर्म-गर्म चाय बहुत गर्म-गर्म पीये न, उसके दाँत पहले गिर जाये, ऐसी लोग बातें करते हैं। समझ में आया ? गर्म-गर्म फलफलता बहुत पीवे तो पेढा वह हो जाये। परन्तु वे पेढा निकले के समय में निकले बिना रहेंगे नहीं। लाख तेरे उपाय कर न। वह जड़ की पर्याय है। वह वृद्धावस्था शरीर की अवस्था है। वह जवान अवस्था थी, वह पलटकर

वृद्धावस्था हुई। बाल अवस्था पलटकर जवान हुई। वह सब उसकी अवस्था है। मुझमें है नहीं। ऐसा प्रथम धर्मी सम्यक् पाने से पहले ऐसी भावना में रुकता है। मुझे कुछ नहीं है। देह, वृद्धावस्था नहीं, जवान भी नहीं और बालक भी नहीं।

ये सब बातें (दशायें) पुद्गल में ही पाई जाती हैं। लो! यह तो सब पुद्गल की अवस्था है। शरीर का वियोग—मृत्यु, शरीर में रोग, बाल, युवक और वृद्ध यह तो जड़ की अवस्था है। यह मुझमें है नहीं। इसका अर्थ है। यह अर्थ तो संक्षिप्त किया है इसमें, भाई! २९ गाथा में। उसमें भी होगा। शब्दार्थ तो होगा न। २९ है। २९ गाथा का। शब्दार्थ आड़ा-टेढ़ा है।

'एकोहं निर्ममः शुद्धः' इत्यादिरूप से जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ... पाठ में तो '**न मे मृत्युः**' लिया है न। अब अस्ति से लेते हैं कि मैं कौन हूँ? धर्मी मानता है कि मैं हूँ कौन? **जिसका स्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ...** एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ, पवित्र हूँ, अभेद एकाकार हूँ। ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि हुई है, उसे आत्मा और उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। **उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता,...** लो! '**एकोहं निर्ममः**' आया था न? पहले आया था या नहीं? '**एकोहं निर्ममः**' २७वीं गाथा में। एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगी गम्य हूँ। जितने संयोगभाव आवे, वे मुझसे पर हैं। २७वीं गाथा में आया था। वह अस्ति से सिद्ध किया है सम्यग्ज्ञानी ने।

एक आत्मा शुद्ध चैतन्य, पर के प्रति के ममत्वरहित मेरा आत्मा—ऐसा जो निर्णय किया। ऐसे आत्मा को **प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता,...** उसे प्राणत्यागरूप मरण नहीं होता। **कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी विच्छेद नहीं हो सकता।** मेरे प्राण तो मेरे पास हैं। मैं जाननेवाला-देखनेवाला, सुख और सत्ता। जाननेवाला-देखनेवाला आनन्द और अस्तिरूप, वह मेरे आत्मा के प्राण हैं। उन प्राण से कभी पृथक् हुआ नहीं। कहो, समझ में आया? मरण के समय ऐसी देह जाये। बापू, अब मैं दो दिन का मेहमान हूँ, हों! बस! नाश हो जायेगा तेरा? अब दो दिन का मेहमान हूँ। और वृद्ध कहे, एक पछेड़ी बापू खाली है, हों! लड़के को कहे, बापू! अभी अलग नहीं करना। मेरा नाक कटेगा। मेरे मरने के पश्चात् तुम्हारे गोलणगाडा भले अलग पड़ना हो तो पड़ना। जाधवजीभाई! ऐसी

लोग बातें करें। बापू! अभी अलग नहीं पड़ो। बापू! यह मेरी नाक जायेगी, हों! इसलिए फिर तुम्हारे अलग पड़ना। यहाँ कहते हैं कि कौन अलग पड़े और कौन मरे? किसको पछेड़ीवार रहे?

आत्मा तो ज्ञानप्राण, चैतन्यप्राण, अस्तिवाले सत्ताप्राण और आनन्दशक्ति, के प्राण से जीवित मैं हूँ। मेरा मरण कभी है नहीं। शरीर का संयोग, वह वियोग है। मेरे स्वभाव सत्ता, सुख और ज्ञान इन मेरे प्राण का संयोग नहीं है, वह तो मेरा स्वभाव है। संयोग नहीं तो उसका वियोग और नाश कभी होता नहीं। समझ में आया? देखो! इसमें धर्मी की धर्मदृष्टि कैसी होती है, ऐसी पहिचान देते हैं। जहाँ मन-वचन और काया अच्छी हो, थोड़े काल अधिक रहे और दूसरे के काम करने के लिये कदाचित् एकाध भव करना पड़, तो भी दिक्कत नहीं। कहते हैं कि मूढ़ है। परपदार्थ के सम्बन्ध से लाभ माननेवाला बड़ा मूढ़ और अज्ञानी परिभ्रमण करनेवाला है। भाई! क्योंकि मैं तो पर के सम्बन्धरहित चीज़ हूँ। फिर पर के सम्बन्ध को कुछ कार्यकर तो हो सकूँ। भाई! मुझे मात्र मेरे काम सौंपना, हों! ऐसा कहते हैं न? बड़े काम आ पड़े हों तो कहते हैं कि मात्र मेरा काम सौंपना। तू कौन है? कि भाई! मैं यह शरीर, वाणी और मन। तो शरीर, वाणी और मन को काम सौंपना है तुझे? वह तो उसकी क्रिया प्रमाण हुआ करते हैं। तब कहते हैं कि मैं आत्मा। तब तेरा काम क्या होगा तेरा? तेरा काम तुझे क्या सौंपना? कि जो होता है, उसे जानना-देखना, वह तुझे काम सौंपूं। सेठी! सामने बैठाते हैं या नहीं तुम्हारे जैसे चतुर हों उन्हें सामने आगे? रखो कहे कि इन सामने दो व्यक्तियों को। भाई! मात्र हमारा कामकाज हो तो याद करना, हों!

यहाँ भगवान कहते हैं, कि तेरे जितना काम क्या है? कि तू तो ज्ञानानन्द चैतन्य आनन्द है और सुखस्वरूप है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता कर, वह तेरा कार्य है। तेरे लिये यह सौंपा जाता है। दूसरा तेरे लिये (नहीं है)। क्योंकि तू नहीं, उसमें तुझे कैसे सौंपना? वाणी, शरीर, मन का त्याग वह तो होने के काल में होता है। वह तुझे सौंपा जाये? कि रखना, ध्यान रखकर, हों! बराबर खाना-पीना और बराबर सम्हाल करना। देखो! ध्यान रखना हों! शिक्षा नहीं देते? लड़के का ध्यान रखना, रेल में ऐसे करना। रेल में जाते हैं न? सिर बाहर निकलने देना नहीं। टोपी-बोपी पहनी हो तो बाहर निकलने देना नहीं। टोपी गिर जाये, फिर चलती ट्रेन में कहीं लेने देती है? इतनी शिक्षा करते हैं। ...भाई! पुराने

लोग करते हैं या नहीं ? ध्यान करना, लड़के को बीच में बैठाना, तुम सामने बैठना। दरवाजे के पास। उस ओर दरवाजे में बीच में बैठाना। सिर बाहर निकले नहीं, पानी-बानी लेने जाये तो लोटा तुम लेने जाना, इन बहिन को भेजना नहीं। कौन जाने गिर पड़े। भारी काम सौंपा। माँ-पिता का प्रेम तो होता है या नहीं ?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं कि इसका तुम्हें क्या मोह है ?

.... जिस प्रकार होनेवाला है, उसे आत्मा रख सके या रोक सके या कर सके, तीन काल में नहीं है। तू किसे सौंपता है ? समझ में आया ? क्यों फावाभाई ! सौंपते हैं या नहीं ? मनहर तो होशियार है। तुमको पूछे ऐसा नहीं। ऐसे रखे, बहुमान रखे। राग रहे। देख, ध्यान रखना। बेटा ! ध्यान रखना। बापू ! ध्यान रखना, ऐसा कहे। बेटा न कहे। बापू ! ध्यान रखना। अब बापू तुम्हारे अपेक्षा में होशियार हूँ। कर देता है न सब काम....

मुमुक्षु : बापो...

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के को कहे बापा कहे ध्यान रखना हों, बापू। क्या ध्यान रखने का कहते हैं भाई ? यह शरीर-बरीर का ध्यान रखो, भाई ! खाने-पीने में सम्हाल रखना, नहीं तो फिर ऐसे हो जाये। परदेश के काम वहाँ अकेले जाना, एकाध आदमी साथ हो। वहाँ दवा-दारू कैसे... ध्यान रखना। कहते हैं कि भगवान ! जिसने देह के कार्यों को आत्मा के माना है, उसे ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। कहो, भीखाभाई ! क्या है यह ? दुनिया से भारी उल्टा है, भाई !

कहते हैं कि प्राण त्याग। मुझमें प्राण कैसा ? प्राण अर्थात् जीवन का कारण, मेरे टिकने का कारण, आत्मा को टिकने का कारण। यह आत्मा टिका रहता है, वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता / अस्तित्व से टिक रहा है। उसका कभी नाश नहीं होता और किसी के नाश होने के काल में शरीर और दूसरा आत्मा उसे रख सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं कर सकता। दूसरे के प्राण भी ज्ञान, दर्शन और आनन्द उसके पास है। उसके शरीर के वियोग के काल में शरीर का वियोग होगा। उसे अज्ञानी मान बैठता है कि मैं मर गया, वह तो उसकी मान्यता की भूल है। कहीं शरीर का वियोग उसे दुःख का कारण नहीं है।

उसकी मान्यता उसे दु:ख करती है कि मैं मर जाता हूँ, भाईसाहेब, मर जाता हूँ। परन्तु कौन मरे ? तीनों काल रहनेवाला ज्ञानस्वभाव सत्तावाला आत्मा, मेरे प्राण का त्याग अन्तर के अभाव का होता नहीं। बाह्य त्याग तो मुझमें है ही नहीं। वह चीज़ ही मुझमें नहीं, तो उसे छोड़ना ऐसा (नहीं होता) और छूटने से दु:ख हो, यह मुझमें है नहीं।

कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणों का कभी भी बिछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत... जरा दृष्टान्त दिया है। मरण नहीं। **मरण के कारणभूत काले नाग...** दुनिया कहती है न ? पाठ में है, हों! '**कृष्णसर्पादिभींति**' काला नाग ऐसे बड़ा होता है न ? काल शामजीभाई कहते थे, भाई! काली नागिन निकली थी। निकली होगी ऐसे फण मारकर। गर्मी बहुत थी न। पकड़कर डाल आये। गर्मी होवे तो... लोग होवे, वहाँ सब आवे। आवे या नहीं ? लोग होवे तो अकेले नहीं घूमते जंगल में ? जंगल में बड़े सर्प देखे हैं। ऐसे सर्प। हम तो दूर जाते हैं जंगल में, ऐसे सर्प देखे कहीं देखे न हो। वे बड़े चार-पाँच-छह हाथ का लम्बा और इतना मोटा बहुत लाल। पानी पीता था... ऐसे उड़कर... बोटाद की बात है। घने जंगल में पड़े हों। लोग न हों वहाँ अकेले पड़े हों। वह एक जीव है या नहीं ? वह जीव और शरीर भिन्न है परन्तु दो (हैं, ऐसे) भान नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि **काले नाग आदिकों से मुझे भय क्यों ?** दुनिया तो ऐसा कहती है न ऐई! काला नाग ... आहाहा! क्या है ? यह प्राण ही देह के हैं, यह प्राण जड़ के हैं। पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया, श्वास के यह जड़, मिट्टी, धूल है। उस धूल का वियोग होवे तो मुझमें कहाँ थी वह ? इसलिए ऐसा... देखकर हाय... हाय.. ! क्या है हाय-हाय ? काला नाग देखकर ऐसे जाये न... हाय.. हाय। लड़के को हुआ था न ? एक मोढ के लड़के को दुकान में सर्प ने डस लिया था। यहाँ दुकान में। डसा इसलिए एकदम कौन जाने दुकान में से आया बड़ा जब्बर, डस कर चला गया। एक ऐसा बोला बापू! पिता तो नहीं था परन्तु अब मैं जीऊँगा नहीं। सर्प इतना बड़ा। ले गये यहाँ सिहोर। वहाँ रास्ते में मर गया। फिर और एक वह था उतारनेवाला। क्या कहलाता है ? वादी। मुझे बुलाया होता न! अब डाला साल। मुझे बुलाया होता न तो मैं रख देता (बचा लेता), हों! वहाँ कहीं कर देता। फिर तो उसे बुलाया अवश्य था, वह सर्प पकड़ने। दुकान में सर्प था।

यहाँ कहते हैं, अज्ञानी को सर्प के, काले नाग का भय है। प्राण जाने के काल में जायेंगे और वे प्राण तो मुझमें है नहीं। मुझमें हो, वह जाये तो मुझे भय हो। मुझमें तो वह है नहीं। कहो, समझ में आया? वह पुद्गल की... पाठ में आया है न? **पुद्गल में ही पायी जाती है। 'न युवैतानि पुद्गले'।** वह तो पुद्गल की दशा, जड़ की अवस्था है। सर्प हो या सर्प का काटना हो या शरीर में... वह तो जड़ की (अवस्था है), मुझे कुछ है नहीं।

काल नाग आदि... आदि अर्थात् उस प्रमाण में .... बड़े काले ऐसे होते हैं। काले बिच्छू इतने लम्बे। ऐसे बिच्छू। मर ही जाये, काटे और मर जाये। एक मर गया नहीं? गढडा में नहीं। लाठीवाला लड़का। बिच्छू काटा न भाई, लड़का मर गया। बिच्छू बहुत कठोर। बहुत बिच्छू। लड़का जवान। ऐसा बिच्छू काटे। ऐसे बिच्छू होते हैं। एक बार मैंने देखा था। इतना लम्बा बिच्छू और काला इतना बड़ा। ऐसे चला जाये अन्दर। वह काटे तो मर ही जाये। परन्तु वह आयुष्य पूर्ण होने का काल होवे, तब ऐसा निमित्त होता है, परन्तु वह तो जड़ के प्राण हैं। मेरे प्राण में कभी कोई काटता भी नहीं और उनका वियोग मुझे कभी होता नहीं।

अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूँ। मुझमें जहाँ शरीर ही नहीं, शरीर की अवस्था नहीं तो मुझे डर किसका? **इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदि की विषमता को व्याधि कहते हैं,...** लो! एक बात, पित्त और कफ—तीन की व्याधि, वह तो जड़ में होती है; मुझे नहीं होती। वायु का प्रकोप है, कफ का प्रकोप है, पित्त का प्रकोप है। ऐसा नहीं कहते? इसे पित्त का प्रकोप है तो सिर में ऐसा होता है। वायु का प्रकोप है। यह कहते हैं कि इसकी विषमता... अर्थात् तीन (समतौल) होवे तो रोग नहीं रहता। तीन में जहाँ फेरफार हो तो व्याधि कहते हैं। **और वह मुझे है नहीं,...** वह पुद्गल में है, मुझमें नहीं। देखो! यह उपाय। भगवानजीभाई! रोग मिटाने का उपाय यह है। दूसरा नहीं। कहो, समझ में आया? रविभाई! देखो! यह वैद्य आते हैं। यहाँ देखो, इस प्रकार का वैदुं। अफर वैदुं। उसमें तो... और जाये। पचास हजार खर्च किये। कितने हजार खर्च किये एक व्यक्ति ने। कोयलावाला था न कोई यहाँ। छोटालाल जमुनादास। कितने दो-दो हजार के गहने। जहाँ हुआ न अन्त में समाप्त, चलो। धूल पचास हजार, लाख, क्या पचास लाख डाले तो कौन रोकता था।

उसकी अवस्था पूरी होने के काल में। प्राण छूटने हैं जिस समय छूटने हैं, इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र कोई बदल नहीं सकते। तेरे लाख-करोड़ उपाय कर। परन्तु वे मुझमें ही नहीं। धर्मी विचारता है। किसका वियोग हो ?

और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं। वायु, कफ तो जड़ के साथ सम्बन्ध है। मेरे साथ है ? आत्मा तो अरूपी है, ज्ञानस्वरूपी है। अरूपी ज्ञानस्वरूपी। उस जड़ की व्याधि का सम्बन्ध आत्मा को है नहीं। ऐसा धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव ऐसी भावना करता है। अज्ञानी को तो ऐसे जरा हो तो हाय-हाय मर गये। अरे रे ! यह रोग अब नहीं मिटेगा, हों ! भाई ! रोग का अटैक बहुत बार आता है परन्तु यह अटैक कोई अलग प्रकार का लगता है। इसमें बचाव का कोई उपाय मुझे दिखाई नहीं देता। किसके बचाव का ? भाई ! तू तो आत्मा है। और ज्ञान अर्थात् जानने-देखनेवाला स्वभाववाला है। उसमें यह पुद्गल की विषमता से व्याधि होती है। लो, यहाँ तो उड़ा दिया। व्याधि हो, वह दुःख में निमित्त तो है या नहीं ? व्याधि हो, वह दुःख में निमित्त (तो है न) ? नहीं। यह तू दुःखभाव करे तो उसे कारण-निमित्त कहा जाता है, नहीं तो उसे निमित्त नहीं कहा जाता। यह मेरी देह छूटी, ऐसा माने तो तुझे निमित्त देह छूटने का (कहा जाता है)। भाई ! तेरे मस्तिष्क को... मस्तिष्क पागल हो गया है। पागल भी हो जाते हैं। अभिमान हो जाये। बहुत ... लवारो होकर भूल जाये। वह मस्तिष्क पर वात चढ़ी, इसलिए नहीं। उसके ज्ञान का उपयोग उसके-जड़ के अस्तित्व में जोड़ दिया है। और मेरा ज्ञानस्वरूप है, उसमें जोड़ता नहीं। इसलिए मैं पागल हो जाऊँगा, ऐसा अज्ञानी को भासता है। जाननेवाला जो उपयोग व्यापार उसे पर में ऐसे जोड़ दे। अरे रे ! मुझे इसमें कुछ होता है, हों ! वह यहाँ नली-नली, रग-रग इसमें कुछ होता है। करकरकरर होता है। और करते-करते मेरा चक्कर फिर गया। भान नहीं, भान नहीं। ज्ञानस्वरूप अरूपी और यह तो हड्डियाँ। यह तो श्मशान में राख होगी, खबर नहीं ? बहुतों की हो गयी और बहुतों को होती है और होगी।

ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा तकलीफ कैसी ? वह मुझमें नहीं। वह मुझे ही नहीं। मुझे नहीं तो व्याधि किसकी ? उसमें होवे तो व्याधि मुझे किसकी ? जड़ में हो तो

मुझे किसकी और मुझे नहीं तो मुझे व्याधि किसकी ? **उसी तरह मैं बाल, वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ।** लो, मैं बालक भी नहीं। अरे ! मैं कोमल शरीर, ... बालक। माता-पिता हो तो पाल-पोसकर बड़ा करे। बापू ! बालक अरे रे ! माता-पिता बिना के हो गये। ऐसा नहीं कहते ? छोटी उम्र में होता है। उसमें भी आता है या नहीं ? बहन मरी... गीत गाय आता है न ? भाई मरे। ... ऐसा कुछ कहते हैं। वह आता है रामचन्द्रजी का। आता है न लक्ष्मण का। ऐसा आता है। बहुत वर्ष पहले वहाँ पालेज में सीखे थे। बहिन मेरे वहाँ दिशा जाये। उस दिशा की ओर। भाई मरे भव हारीओ, बहिनी मरे दिशा जाये। छोटेपन में जिसकी माँ मरे उसे चारों ही दिशा के वा वाय। ऐसी कहावत है भाई ! दुनिया में ऐसा कहा जाता है। किसे वा ? बालकपना ही वह मैं नहीं।

सम्यग्दृष्टि आठ वर्ष की कन्या को आत्मा का भान हुआ हो। बालक कौन है ? हम तो आत्मा हैं। हमें कोई नष्ट नहीं कर सकता। हमारा आधार चैतन्य शरण है। हमें कोई वृद्धादि, बालादि अवस्था हमारे में है ही नहीं। समझ में आया ? अंजना सती महा पतिव्रता। उसके गर्भ में पुत्र था—यह हनुमान। समझ में आया ? तथापि पति... सासु ने उसे निकाल डाला जंगल में। अकेला जीव सोता रानी... महा पवित्रव्रता सति। अरे ! हम आत्मा हैं। यह क्या ? यह प्रतिकूलता हो, उसके घर रही। जरा राग आवे तो और दुःख जरा लगे। परन्तु अन्दर में हम तो अकेले आत्मा (हैं)। जंगल में हों तो भी अकेले और राज में हों तो भी अकेले। हमारा कोई है नहीं। ऐसी सतियाँ जंगल में रहते हुए आत्मा के ज्ञान में मौज करती थी। मौज करती है। यह हमारा कोई पूर्व का पुण्य का उदय... ले गये।

इसी प्रकार सीताजी। रामचन्द्रजी ने हुकम किया, जाओ। उसको कहो, जंगल में ले जाओ। अरे नाथ ! क्या हुकम ? छोड़ दो तुम। सब कहते हैं कि ऐसा अन्याय रामचन्द्रजी करे ? रावण के घर में रही हुई को रखें ? छोड़ दो उसे। फिर जंगल में ले जाओ। माता ! रामचन्द्रजी का हुकम है कि यहाँ छोड़ दिया जाये। रोवे... रोवे... रोवे... माता ! राजचन्द्रजी का हुकम है। भाई ! उलझ नहीं। धर्म की शरण है। रामचन्द्रजी से कहना, आत्मा की शरण... मुझे छोड़ा धर्म को न छोड़े। जंगल में। दो जीव तो गर्भ में हैं। लव और कुश। वह धर्मात्मा आनन्द ज्ञान में रमती थीं। परन्तु अभी राग पूर्ण टला नहीं था। माता ! आपको छोड़ा

इन सिंह और बाघ के मध्य में। रोवे... रोवे... रोवे... वह रथ का (हाँकनेवाला) भाई! तूने राजा का हुकम ... है, तत्प्रमाण करना। मेरी चिन्ता करना नहीं। हम आत्मा में आनन्द में हैं। ओहोहो! समझ में आया? कहना रामचन्द्रजी को कि लोक के लिये मुझे छोड़, लोक के लिये धर्म को न छोड़े।

भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति का जो अनुभव करते हो, उसमें रहना। रागादि लोक की दरकार करना नहीं। उस समय धर्म शरण स्मरण किया। समझ में आया? प्रतिकूलता हो तो उसके घर में, हम तो हमारे आत्म-घर में हैं। हम हमारे घर में से बाहर निकलकर दूसरे दुःख के कारण हैं, ऐसा नहीं मानते। कहो, समझ में आया? जवान अवस्था हो, वृद्ध अवस्था हो, बाल अवस्था हो। ... अवस्था हो। धर्मीजीव... राग हो, वहाँ तक अमुक क्रिया होती है परन्तु अन्तर में राग और क्रिया से पृथक् आत्मा को अनुभव कर रहे हैं। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है। उसकी पूर्णता की हमें प्राप्ति नहीं, इसलिए जरा रागादि हो, परन्तु उनकी हेयबुद्धि ज्ञानी को वर्तती है। देहादि की अवस्था हमें नहीं है। हम बाल भी नहीं, वृद्ध भी नहीं, युवक भी नहीं।

तब बाल वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ? बालक है, इसलिए यह दुःख होता है। मेरी बात कोई सुनता नहीं। लकड़ी जब विधवा हो, तब दुनिया 'दुःखी है' ऐसा कह दे। दुखियारी। परन्तु किसकी दुखियारी? दुखियारी है ही कहाँ? ... उसे पति नहीं होता, बापू! उसे दुःख है। बापू! दुःख वह नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द है, उसकी दृष्टि करे तो संयोग तो वियोग में जाता है, वियोग के कारण से। स्वामी ही कब आत्मा का था तो चला गया? सहजानन्द स्वयं चैतन्यस्वामी है। ज्ञानानन्द का मैं स्वामी हूँ। राग का भी स्वामी नहीं तो पर का स्वामी और पर मेरा स्वामी, पर का स्वामी और पर मेरा स्वामी, यह ज्ञानी की दृष्टि में है नहीं। समझ में आया?

बाल वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ? अच्छा यदि मृत्यु वगैरह आत्मा में नहीं होते, तो किसमें होते हैं? मृत्यु, रोग, बाल, युवा और वृद्धावस्था यदि आत्मा में नहीं तो कहाँ होती हैं? **इसका जवाब यह है कि... 'एतानि पुद्गले'** वह तो जड़ में होती है, मिट्टी में होती है। आत्मा में है नहीं। ऐसे

पुद्गल और आत्मा को अन्तर भिन्न करके भावना करना, इसका नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग है। और पर के साथ जुड़ान करके लाभ की भावना करना, वह मिथ्यात्व और दुःख का मार्ग है।

ये मृत्यु-व्याधि और बाल, वृद्ध आदि दशायें पुद्गल-मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं। क्योंकि ये सब मूर्तिमान पदार्थों के धर्म हैं। मृत्यु, वह शरीर का धर्म; रोग वह शरीर का धर्म; बाल, युवा, वृद्ध वह शरीर का स्वभाव। उसका स्वभाव कहो या धर्म कहो। मेरे आत्मा में है नहीं। इस प्रकार पर से भिन्नता की भावना, (स्व की) एकाग्रता, एकान्त सुख के फल की प्राप्ति है। और पर के साथ एकत्वबुद्धि से जरा भी लाभ मानना एकान्त संसार के दुःख के फल की प्राप्ति है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)